॥ ओ३म् ॥

उपनिषद् रहस्य

मुण्डकोपनिषद्

लेखक
पूज्यपाद श्री महात्मा नारायण स्वामी जी
प्रधान, सार्वदेशिक सभा, देहली ।

प्रकाशक
वैदिक-साहित्य-प्रचारिणी सभा, देहली ।

द्वितीय बार
२०००

सं० १९९८

मूल्य =)॥

भूमिका

यह उपनिषद् रहस्य का पाँचवाँ ग्रन्थ है। इसमें अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् की टीका की गई है। प्रश्नोपनिषद् की टीका प्रकाशित होने के बाद अनेक सज्जनों के पत्र आये जिनमें आग्रह किया गया है कि मैं यथासम्भव शीघ्र अन्य उपनिषदों की भी टीका कर दूँ। मेरा स्वयं भी विचार था कि कम से कम आठ उपनिषदों की टीका शीघ्र तय्यार हो जावे परन्तु अवकाश की कमी से मैं न अपनी ही इच्छा पूरी कर सका और न अन्यों की। अब यह उपनिषद् ब्रह्मविद्या के जिज्ञासुओं के सम्मुख उपस्थित की जाती है। टीका में यत्न किया गया है कि सभी संदिग्ध स्थलों को अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया जावे। अर्थों में खींच-तान करना कम से कम मैं अपने लिये पाप समझता हूँ। आशा है कि इस उपनिषद् से भी स्वाध्यायशील महानुभाव अधिक से अधिक लाभ उठावेंगे।

नारायण आश्रम
रामगढ़ (नैनीताल)
भाद्रपद शुक्ला ३ सं० १९९२ वि०

—नारायण स्वामी

ॐ

अथ मुण्डकोपनिषद्

प्रथम मुण्डक

प्रथम खण्ड

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्यां प्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥१॥
अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्म विद्याम् ।
स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥२

अर्थ—(देवानाम) देवों का (प्रथमः) पहिला (विश्वस्य कर्त्ता) विश्व का कर्त्ता (भुवनस्य गोप्ता) जगत् का रक्षक (ब्रह्मा) ब्रह्मा (सम्बभूव) प्रकट हुआ (सः) उसने (ज्येष्ठपुत्राय-अथर्वाय) ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा के लिए (सर्वविद्यां—प्रतिष्ठाम्) सब विद्याओं की बुनियाद (ब्रह्मविद्याम्) ब्रह्मविद्या का (प्राह) उपदेश किया ॥ १ ॥

(अथर्वणे) अथर्वा के लिए (यां) जिस (ब्रह्म विद्या) का (ब्रह्मा) ब्रह्मा ने (प्रवदेत) उपदेश किया था (अथर्वा)

अथर्वा ने (अङ्गिरे) अंगी (नाम वाले विद्वान्) के लिए (ताम्) उस (ब्रह्म विद्याम्) ब्रह्म विद्या को (पुरा) पहले (उवाच) कहा (सः) उस (अंगी) ने (भारद्वाजाय-सत्यवाहाय) भरद्वाज के पुत्र सत्यवाह के लिए (प्राह) कहा (भारद्वाजः) भरद्वाज के पुत्र ने (अङ्गिरसे) अङ्गिरा के लिए (परावराम) पर श्रेष्ठ और अवर-अश्रेष्ठ (विषयों की जनाने वाली) विद्या को (प्राह) बतलाया ॥ २ ॥

व्याख्या—उपनिषद् के पहले वाक्य में ब्रह्मा के तीन विशेषण दिए गए हैं । (१) वह देवों में प्रथम देव था (२) वह जगत्-कर्ता था (३) वह जगत् का रक्षक था । प्रश्न यह है कि वह ब्रह्मा कौन था । इसके तीन उत्तर दिए जा सकते हैं ।

पहला उत्तर—वह ब्रह्मा कोई अन्य व्यक्ति न था किन्तु स्वयं ईश्वर ही था । ईश्वर जब जगत् पैदा करना चाहता है तब उस का नाम ब्रह्मा होता है । ब्रह्मा शब्द का अर्थ वृद्धि की इच्छा करने वाला है । उपनिषदों में इस प्रकार के वाक्य अनेक जगह प्रयुक्त हुए हैं कि ब्रह्मा ने जब प्रजा वाला होने की इच्छा की तो जगत् को उत्पन्न किया । † इसी लिए ब्रह्मा ईश्वर का नाम है ।

---

† (क) छान्दोग्योपनिषद् प्र० ६ खं० २ में हैः—"तदैक्षत बहुः स्याम प्रजायेयेति ॥ अर्थात् उस (ब्रह्म) ने इच्छा की कि "मैं बहुत हूँ" (इसलिए प्रजा उत्पन्न करूँ) "वहतीति वहुः" । वह जगत् का धारण पोषण करता है इसलिए ईश्वर का नाम "वहु" है ।
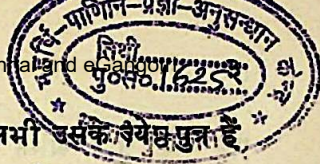
अथर्वा इत्यादि अमैथुनि सृष्टि के व्यक्ति सभी उसके ज्येष्ठ पुत्र हैं, इसलिए उनमें से अथर्वा को उसने वेद ज्ञान दिया।

दूसरा उत्तर—बृहदारण्यकोपनिषद् में आया है (देखो १।४) कि प्रारम्भ में जीव पुरुष के रूप में था जब वह अकेला होने से भयभीत हुआ तो उसके एक दाने की दो दालों के सदृश, दो भाग कर दिये गये जिन में से एक पुरुष और दूसरा स्त्री कहलाया क्योंकि वह प्रारम्भ में इतना था जितना, एक साबित दाने की तरह, पुरुष और स्त्री मिलकर होते हैं।* उस पुरुष को ज्ञान प्राप्त होने से ब्रह्मा संज्ञा हुई, वह मैथुनी सृष्टि का कर्ता और भर्ता था इसलिये उपनिषद् वाक्य में आये ब्रह्मा शब्द से वही पुरुष अभिप्रेत है। उस का मैथुनी सृष्टि का उत्पन्न करना और उन्हें ज्ञान देना स्पष्ट है।

तीसरा उत्तर—अमैथुनि सृष्टि के आरम्भ में चारों वेदों में से

(ख) सोऽकामयत बहुः स्यां प्रजायेयेति॥ (तैत्ति० उप० ब्रह्मानन्द वल्ली अनु० ६) अर्थात् उस (ब्रह्म) ने चिन्तन किया कि मैं "बहुः" हूं इसलिए प्रजा वाला हो जाऊँ। इत्यादि

* आत्मा वा इदमग्र आसीत् पुरुषविधः ××× (१) सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी बिभेति ××× (२) स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधा पातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्द्धबृगलमिव ××× (३) बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।१३।

एक २ का ज्ञान, अग्नि वायु, आदित्य और अंगिरा को ईश्वर द्वारा प्राप्त हुआ। इन में से प्रत्येक ने बाकी तीन तीन वेदों का ज्ञान अन्यों से प्राप्त करके, सभी चारों आदिम ऋषि ब्रह्मा पद-वाच्य हुये। और इन्हीं ब्रह्मा वाचक ऋषि समुदाय से मैथुनि सृष्टि का क्रम चला इसलिये वे उसके उत्पादक और रक्षक दोनों हुये और उन्होंने उस मैथुनि सृष्टि में उत्पन्न अथर्वा आदि को शिक्षा भी दी इसलिये स्पष्ट है कि उपनिषद् के प्रारम्भ में प्रयुक्त ब्रह्मा शब्द इन्हीं ऋषियों के वास्ते है।

इन तीनों उत्तरों में से वे ही अन्त के दो उत्तर अधिक सुसंगत मालूम होते हैं जिनमें ब्रह्मा जीव के लिये प्रयुक्त हुआ समझा गया है और उनमें से भी तीसरा उत्तर कि वेद प्रापक ऋषि ही ब्रह्मा थे अधिक सुसंगत है।

ब्रह्मा ने अथर्वा को, अथर्वा ने अंगी को, अंगी ने सत्यवाह को, और सत्यवाह ने अंगिरा को उस ब्रह्म(वेद) विद्या का उपदेश दिया। उपनिषद् में ज्ञान प्राप्ति का यह जो क्रम कहा गया है इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इस उपनिषद् का शिक्षक अंगिरा वेद वाक्य-प्रापक ऋषियों से पांचवीं ही पीढ़ी में हुआ था किन्तु इस वाक्य में ये नाम सहस्रों के क्रम में से कुछेक बहुत प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्वानों के नाम लिख दिये गये हैं क्योंकि उपनिषद् का अभि-प्राय क्रमपूर्वक इतिहास लिखने का नहीं था किन्तु उनका उद्देश्य केवल यह दिखलाना था कि इस उपनिषद् का शिक्षक अंगिरा उन्हीं विद्वानों में से था जिन तक वेद के ऋषियों से क्रमपूर्वक ब्रह्म

विद्या पहुँची थी और इसका तात्पर्य केवल उपनिषद् की शिक्षा की प्रामाणिकता का प्रदर्शन था।

'पर' और 'अपर' का भाव उसके सिवा जो ऊपर अंकित है, यह भी हो सकता है कि यह ब्रह्म विद्या 'पर' अर्थात् बड़े और श्रेष्ठ विद्वानों से उनकी अपेक्षा अवर अर्थात् छोटे विद्वानों तक परंपरा से चली आ रही है।

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ। कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥३॥

अर्थ—(ह, वै) प्रसिद्ध है कि (महाशालः) बड़ी शाला=गृह या विद्यालय वाले (शौनकः) शुनक के पुत्र शौनक ने (विधिवत् मर्यादा के अनुकूल (अङ्गिरसम) अंगिरा ऋषि को (उपसन्नः) (उसके) समीप जाकर (प्रपच्छ) पूछा (भगवः) हे भगवन्! (नु) निश्चय (कस्मिन् विज्ञाते) किसके जानने पर (सर्वम्--इदम्) यह सब (विज्ञातम्) जाना हुआ (भवति,इति) हो जाता है ॥३॥

व्याख्या—जिस अंगिरा का ऊपर उल्लेख हो चुका है उसी ऋषि की सेवा में मर्यादानुसार उपस्थित होकर, श्रेष्ठ और सम्पन्न गृहस्थ शौनक ने पूछा कि वह क्या वस्तु है जिसके जान लेने से सब कुछ जाना हुआ हो जाता है? ॥३॥

तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥४॥

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥५॥

अर्थ—(तस्मै) उस (शौनक) के लिए (सः) वह (अंगिरा) (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला कि (द्वे विद्ये) दो विद्यायें (वेदितव्ये इति) जानने योग्य हैं (ह, स्म) निश्चय (यद्) जो (ब्रह्म विदः) ब्रह्म के जानने वाले (वदन्ति) कहते हैं (परा, च, अपरा) परा और अपरा ॥४॥

(तत्र) उनमें (ऋग्वेदः) ऋग्वेद (यजुर्वेदः) यजुर्वेद (सामवेदः) सामवेद (अथर्ववेदः) और अथर्ववेद, (शिक्षा) शिक्षा= स्वर और वर्णादि की उच्चारण विधि, (कल्पः) कल्प जो वेद मन्त्रों के विनियोग पूर्वक कर्मकाण्ड का विधान करता है, (व्याकरण) शब्दशास्त्र (निरुक्तम्) निरुक्त जिसमें वेद में आये शब्दों का निर्वचन किया गया है, (छन्दः) छन्दशास्त्र (ज्योतिषम) ज्योतिष विद्या (इति) ये (अपरा) अपरा हैं (अथ) और (परा) परा (यह विद्या है (यया) जिससे (तदक्षरम्) वह अक्षर=अविनाशी (ब्रह्म) (अधिगम्यते) जाना जाता है ॥५॥

व्याख्या—ऋषि अंगिरा ने शौनक के प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रकट किया कि परा और अपरा दो विद्यायें जानने योग्य हैं। ऋग्वेदादि अपरा विद्यायें हैं और जिससे ब्रह्म को जान लिया

जाता है उसे परा विद्या कहते हैं। उपनिषद् के इस वाक्य में वेद को अपरा क्यों कहा इसका कारण स्पष्ट है कि वेद केवल परा विद्या के ग्रन्थ नहीं अपितु अपरा के भी हैं अर्थात् वेद में जहां ब्रह्म विद्या की मूल शिक्षा यजुर्वेद के ४० वें अध्याय में दी गई है जिसका नाम 'ईशोपनिषद्' है और जो उपनिषदों की आधारशिला है। वहां अन्य स्थलों पर गृहस्थ धर्म का भी वर्णन है, युद्ध करने का भी विधान किया गया है, अपना चक्रवर्ती राज्य रखने का भी उल्लेख है, धन पैदा करने की भी आज्ञा दी गई है, इत्यादि। अपरा का अर्थ भी यही है कि जो केवल परा न हो अर्थात् जो परा और अपरा दोनों का मिश्रण हो। अपरा कोई निन्दा सूचक शब्द नहीं है किंतु विषयों के प्रकार की दृष्टि से विद्या के परा और अपरा ये दो भेद किये गये हैं ॥४-५॥

यत्तदद्रश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥६॥

अर्थ—(यत्) जो (अद्दश्यम्) न देखा जा सके और (अग्राह्यम्) न पकड़ा जा सके (अगोत्रम्) जिसका कोई गोत्र नहीं (अवर्णम्)

---

* मेडमवलावटसकी ने तिब्बती भाषा के एक ग्रन्थ (Book of Golden precepts) से जो एक संक्षिप्तसंग्रह तय्यार करके Voice of the silence नाम रक्खा था, उसमें 'अपरा' को Head learning और 'परा' को Soul wisdom लिखकर उनका भेद दिखलाया था।

जिसका कोई रङ्ग नहीं (अचक्षुःश्रोम्) जिसको आंख और कान (आदि इन्द्रियों) की जरूरत नहीं। (अपाणि-पादम्) जिसे हाथ और पांव की भी आवश्यकता नहीं और (सर्व-गतम्) जो सर्वत्र व्यापक और (सुसूक्ष्मम्) अत्यन्त सूक्ष्म है। (तद्) उस (अव्ययम्) क्षय रहित (नित्यम्) नित्य (विभुम्) व्यापक और (यद्) उस (भूतयोनिम) जगत् के निमित्त कारण (ब्रह्म) को (धीराः) धीर पुरुष (परि-पश्यन्ति) सर्वत्र देखते हैं ॥६॥

व्याख्या—ऊपर परा (ब्रह्म) विद्या की बात कही गई है। जिसके द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति होती है। ब्रह्म का कुछ ज्ञान शिष्य को हो जाय इसलिए आचार्य ने ब्रह्म के कुछेक गुणों का वर्णन किया है अर्थात् उसे बतलाया है।

(१) वह इन्द्रियों से नहीं प्राप्त किया जा सकता क्योंकि इन्द्रियों का विषय नहीं है।

(२) उसे अपना काम चलाने के लिये इन्द्रियों की जरूरत नहीं है।

(३) वह सूक्ष्म सर्वव्यापक और एक रस है।

(४) वह जगत् का निमित्त कारण है।

ऐसे ब्रह्म के लिए अंगिरा ऋषि कहते हैं कि उसे केवल धीर पुरुष प्राप्त कर सकते हैं। धीर पुरुष उन विद्वानों को कहते हैं जिनके मन, वाणी और आचरण में समता होती है ॥६॥

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति । यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥७॥

अर्थ—(यथा) जैसे (ऊर्णनाभिः) मकड़ी (सृजते) जाला उत्पन्न करती (च) और (गृह्णते) अपने भीतर समेट लेती है (यथा) जैसे (पृथिव्याम) पृथ्वी पर (औषधयः) औषधियां (सम्भवन्ति) उत्पन्न होती हैं (यथा) जैसे (सतः पुरुषात्) पुरुष=जीव के विद्यमान होने से (केश-लोमानि) केश और लोम (उत्पन्न होते हैं) (तथा) वैसे ही (अक्षरात्) उस अविनश्वर पुरुष=ब्रह्म से (इह) यह (विश्वम) ब्रह्मांड (सम्भवति) उत्पन्न होता है ।

व्याख्या—ईश्वर से किस प्रकार जगत् उत्पन्न होता है इसके कतिपय उदाहरण दिये गये हैं ।

पहला उदाहरण—मकड़ी अपने भीतर उपस्थित जाले के कारण से जाला उत्पन्न करती और फिर उसे अपने भीतर कर लेती है ।

दूसरा उदाहरण—पृथ्वी में बीज पड़ने से औषधियां उसी बीज का रूपान्तर होकर उत्पन्न होती हैं ।

तीसरा उदाहरण—शरीर में जीव के मौजूद होने से केश और लोम, शरीर के अन्दर मौजूद अपने कारण से उत्पन्न होते हैं ।

इन उदाहरणों के अनुसार अविनाशी ब्रह्म अपने अन्दर

मौजूद जगत् के कारण प्रकृति से, इस समस्त ब्रह्मांड को उत्पन्न किया करता है ॥ ७ ॥

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते । अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥८॥

अर्थ—(तपसा) ईक्षण से (ब्रह्म) वह अक्षर (चीयते) बढ़ता है (ततः) उस से (अन्नम्) अन्न (अभिजायते) उत्पन्न होता है (अन्नात्) अन्न से (प्राणः) प्राण, उससे (मनः) मन उससे (सत्यम्) सत्य = पंचभूत, उनसे (लोकाः) (सूर्य्यादि) लोक और मनुष्यादि योनि (और उनमें कर्म) (च) और (कर्मसु) कर्म से (अमृतम) फल (उत्पन्न) होते हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या—प्रलयके बाद जगदुत्पत्तिका सूत्रपात ब्रह्मके ईक्षण से होता है ईक्षण ब्रह्मकी उस स्वाभाविक इच्छाका नाम है जो जगदुत्पत्ति से पहले उसमें उत्पन्न होकर गति को पैदा करती है, जिस गति से सत, रज, तम की साम्यावस्थाकी समता टूट कर विषमता पैदा होती है और उसी विषमता से प्रकृति विकृतिको प्राप्त होकर जगत् के पूर्वरूप महत्तत्त्वादि को पैदा किया करती है, इसी का नाम ब्रह्म का बढ़ना है । ब्रह्म प्रकृति को भी कहते है ।† प्रकृति

---

† देखो बृहदारण्यकोपनिषद् २।३।१।२

"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चैवामूर्त्तञ्च"

यहाँ ब्रह्म शब्द पंचभूतों के समुदाय (प्रकृति) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है इसीलिए आकाश और वायु को अमूर्त और अग्नि, जल और पथिवी को मूर्त कहा गया है ।

का कारण से कार्य रूप में होना स्पष्ट रीति से उसका बढ़ना है ही। उपनिषद् के इस वाक्यमें जगदुत्पत्ति क्रमपूर्वक वर्णित नहीं है किंतु आवश्यकतानुसार उसकी कुछेक शृङ्खलाओं का वर्णन है। 'अन्न' का अभिप्राय गेहूँ आदि अन्नसे नहीं किन्तु महत्तत्त्व आदि सूक्ष्म भूतों से है जिससे ५ तन्मात्रा और मन आदि की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्म भूतों से स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं इसलिये 'सत्यम्' शब्द का अभिप्राय स्थूलभूतों से है और 'लोकाः' शब्द में सूर्यादि लोक तथा मनुष्यादि योनियां दोनों का समावेश है ॥ ८ ॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नञ्च जायते ॥९॥

अर्थ—(यः) जो (सर्वज्ञः) सर्वज्ञाता (सर्ववित्) सब कुछ जानने वाला (यस्य) जिसका (ज्ञानमयं) ज्ञानपूर्वक (तपः) तप=कर्म है (तस्मात्) उसी सर्वज्ञ से (एतत्) यह (ब्रह्म) जगत् (नाम) नाम और (रूपम्) रूप (ह) और (अन्नम्) अन्न (जायते) उत्पन्न होता है ॥ ९ ॥

व्याख्या—जगदुत्पत्ति कर्ता को सब कुछ जानने वाला तथा ऐसा होना चाहिये जिसका कर्म ज्ञानपूर्वक हो, इसी बात का उल्लेख उपनिषद् के इस वाक्य में किया गया है। नाम रूपका अभिप्राय बाह्य आकृति और रूप से होता है इसका तात्पर्य यह हुआ कि ईश्वर ने केवल जगत् (वस्तुतत्त्व) ही नहीं पैदा किया किन्तु

जगत् में जो तरह तरह के रूप और भिन्न २ प्रकार की आकृतियां दिखलाई देती हैं उनका उत्पन्न करने वाला भी वही ईश्वर है ॥ ६ ॥

इति प्रथममुण्डके प्रथमः खण्डः

प्रथमो मुण्डकः

द्वितीयः खण्डः

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि । तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः स्वकृतस्य लोके ॥ १ ॥ १० ॥

अर्थ—(तत्) वह (एतत्) यह (सत्यम्) सत्य है (मन्त्रेषु) मन्त्रों में (यानि) जिन (कर्माणि) कर्मों को (कवयः) सूक्ष्मदर्शी विद्वान् (अपश्यन्) देखते थे (तानि) वे (कर्म) (त्रेतायाम्) तीन प्रकार के मन्त्र वाले वेदों में (बहुधा) अनेक प्रकार से (सन्ततानि) फले हुए हैं (तानि) उन (कर्मों) को (सत्यकामाः) सत्य संकल्प होकर (नियतम्) नित्य (आचरथ) आचरण करो (एषः) यह (वः) तुम्हारा (लोके) जगत् में (स्वकृतस्य) अपने किये कर्म का (पन्था) मार्ग है ॥ १ ॥ १० ॥

व्याख्या—उपनिषद् में इस वाक्य द्वारा, कर्म और फल की उत्पत्ति का विवरण देने के बाद, कर्म करने का विधान किया गया है। वेदों में जिन कर्मों के करने का विधान है और जिन्हें सूक्ष्मदर्शी विद्वानों ने उन (वेदों का ज्ञान प्राप्त करके प्रकट किया है उन्हें सत्यता के साथ सदैव करना चाहिये क्योंकि जगत् में मनुष्यका मार्ग अपने किये हुए कर्मों हीसे बना करता है ॥१॥१०॥

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने । तदाज्यभागावन्तरेणाऽऽहुतीः प्रतिपादयेच्छ्रद्धया हुतम् ॥ २ ॥ ११ ॥

अर्थ—(हि) निश्चय (यदा) जब (समिद्धे) समिधाओं से (हव्यवाहने) अग्नि के प्रदीप्त होने पर (अर्चिः) ज्वालायें (लेलायते) धधक उठती हैं (तदा) तत (आज्यभागौ) घृत की दो (अन्तरेण) क्रम से (आहुतीः) आहुतियां (प्रतिपादयेत्) देवे (श्रद्धया) श्रद्धा से (हुतम) होम किया हुआ हो ॥२॥११॥

व्याख्या—कर्म में मुख्य यज्ञ है इसलिए पहले उसीके करनेकी शिक्षा दी गई है। यज्ञ दो प्रकार से किये जाते हैं, एक फल की इच्छा से, दूसरे कर्त्तव्य पालन करने के लिए केवल धर्म समझकर फल की इच्छा को छोड़कर करना। इनमें से पहला मनुष्य को आवागमन के चक्र में रखता है और दूसरा मोक्ष के कारणों में से एक कारण बना करता है। दोनों प्रकार की भावनाओं वाले यज्ञ का प्रारंभ इसी प्रकार किया जाता है जैसा इस वाक्य में वर्णन है ॥ २ ॥ १५ ॥

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च । अहुतमवैश्वदेवमविधिनाहुतमासप्तमान् लोकान् हिनस्ति ॥ ३ ॥ १२ ॥

अर्थ—(यस्य) जिसका (अग्निहोत्रम्) अग्निहोत्र (अदर्शम्) दर्श=अमावस्या के यज्ञ रहित है (अपौर्णमासम्) और पूर्णमासी के यज्ञ से भी शून्य है (अचातुर्मास्यम) चातुर्मास्य सम्बन्धी यज्ञ से भी खाली है (अनाग्रयणम्) आग्रयण

शरद् ऋतु में विहित यज्ञ शून्य है (अतिथिवर्ज्जितम्) अतिथि यज्ञ वर्जित है (अनाहुतम्) समय पर होम से रहित है (अवैश्वदेवम्) वैश्वदेव कर्म से खाली है (अविधिनाहुतम) विधिरहित होम किया हुआ है (तस्य) उसके (आसप्तमान्-लोकान्) सात लोकों को (हिनस्ति) नाश करता है। ३ ॥ १२ ॥

व्याख्या—प्रत्येक गृहस्थ का धर्म है कि नैत्यिक यज्ञ के सिवा निम्न नैमित्तिक यज्ञों को यथासमय किया करे—

(१) दर्श—अमावस्या का जो यज्ञ किया जाता है उसका नाम दर्श है।

(२) पौर्णमास्यम्—जो प्रत्येक मास की पूर्णिमा को करना चाहिये।

(३) चातुर्मास्यम्—वर्षा ऋतु में किये जाने वाले यज्ञ का नाम चातुर्मास्य है।

(४) आग्रयण—वह यज्ञ है जो शीत ऋतु में किया जाता है।

(५) अतिथि यज्ञम्—यह भी नैत्यिक यज्ञों में से एक है और प्रतिदिन किया जाना चाहिये।

(६) वैश्वदेवम्—यह भी नैत्यिक यज्ञों में से एक है और दैनिक होना चाहिए।

उपनिषद् के इस वाक्य में चितौनी दी गई है कि जो इन विहित यज्ञों को नहीं करते अथवा जो करते हैं परन्तु विधि पूर्वक नहीं करते वे अपने समस्त लोकों को खराब करते हैं।

सात लोक—ये हैं (१) पृथ्वी (२) वायु (३) अन्तरिक्ष (४) आदित्य (५) चन्द्रमा (६) नक्षत्र (७) ब्रह्मलोक, ये ही लोक हैं जिनमें से किसी न किसी लोक में प्राणी रहा करता है। परन्तु यज्ञ न करने वाले अथवा देव ऋण से उऋण न होने वाले जिस लोक में भी जावेंगे वह उनके लिए शान्ति का स्थान न होगा। सातवें ब्रह्मलोक में तो अशुभकर्मी जा ही नहीं सकते ॥ ३ । १२ ॥

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सधूम्रवर्णा। स्फुलिङ्गिनी विश्वरूपी च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥ ४ ॥ १३ ॥

अर्थ—(काली) काली (कराली) तीक्ष्ण (मनोजवा) मन का सा वेग रखने वाली (सुलोहिता) लाल रंग वाली (या) जो (सुधूम्रवर्णा) धुयें के रंग वाली (स्फुलिङ्गिनी) चिनगारी वाली (विश्वरूपी) अनेक रूप वाली (देवी, प्रकाशमयी (लेलायमाना) प्रदीप्त (सप्तजिह्वाः) सात ज्वालायें (अग्नि की) हैं ॥१३॥

व्याख्या—अग्नि की ज्वालायें, जो यज्ञ के लिए प्रज्वलित की जाती हैं इन्हीं सात रूपों में से किसी न किसी रूपमें हुआ करतीं हैं ॥ ४ ॥ १३ ॥

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्। तन्नयन्त्येताः सूर्य्यस्य रश्मयो यत्र देवानाँ पतिरेकोऽधिवासः ॥ ५ ॥ १४ ॥

अर्थ—(हि) निश्चय (एतेषु) इन (भ्राजमानेषु) प्रकाशमान (अग्नि जिह्वा के) भेदों में (यथाकालम्) ठीक समय पर (यः) जो (चरते) हवन करता है (तम्) उस (यजमान) को (एताः) ये (आहुतयः) आहुतियां (आददायन्) ग्रहण करती हुईं (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मयः) किरणों के साथ (नयन्ति) पहुँचाती हैं (यत्र) जहां पर (देवानां, पतिः) देवों का स्वामी (एकः) अद्वितीय (अधिवासः) रहता है ॥५॥१४॥

व्याख्या—जब विद्वान् इन प्रज्वलित अग्नियों में यथाकाल और यथाविधि हवन करता है और उसके बदले में इच्छा कुछ नहीं करता तो इस निष्काम यज्ञ के बदले में उसे अद्वितीय ब्रह्म की प्राप्ति होती है ॥ ५ ॥ १४ ॥

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्च्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति । प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्च्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥ ६ ॥ १५ ॥

अर्थ—(सुवर्च्चसः) प्रकाशयुक्त (प्रियाम्) प्रिय (वाचम्) वाणी को (अभिवदन्त्यः) बोलती हुईं (अर्च्चयन्त्यः) सत्कार करती हुईं (वे) (आहुतयः) आहुतियां (एहि एहि इति) आओ, आओ, ऐसा (कहती हुईं) (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मिभिः) किरणों के साथ (तम्) उस (यजमानम्) यजमान को (वहन्ति) ले जाती हैं (और कहती हैं कि) (एषः) यह (वः) तुम्हारा

(पुण्यः) पवित्र (सुकृतः) अच्छे कर्म का (फलरूप) (ब्रह्मलोकः) ब्रह्मलोक है ॥ ६ ॥ १५ ॥

व्याख्या—अलंकार की रीति से वर्णन किया गया है कि वे निष्काम यज्ञ की आहुतियां मानों यजमान को बुलाकर अपने साथ ले जाकर उसे सूर्य किरणों के द्वारा ब्रह्मलोक को पहुँचा देती हैं ॥ ६ ॥ १५ ॥

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥ ७ ॥ १६ ॥

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाःस्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अंधेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ८ ॥ १७ ॥

अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः । यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ ९ ॥ १८ ॥

अर्थ—(हि) निश्चय (एते) ये (यज्ञरूपाः) अग्निहोत्रादि (कर्म) (येषु) जिन में (अष्टादशोक्तम्) अठारह ऋत्विज कहे जाते हैं (अवरं) अश्रेष्ठ (कर्म) कर्म (अदृढाः) स्थिरता रहित और (प्लवाः) नाशवान हैं। (ये मूढाः) जो मूढ़ पुरुष (एतत्) यह (श्रेयः) श्रेय=मोक्ष का साधन है (ऐसा समझकर)

(अभिनन्दन्ति) सन्तुष्ट होते हैं (ते) वे (जरा) बुढ़ापे और (मृत्युम्) मृत्यु को (पुन एव) फिर भी (अपियन्ति) प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥ १६ ॥

(अविद्यायाम्) अविद्या के (अन्तरे) बीच में (वर्त्तमानाः) वर्त्तमान (स्वयं) अपने को (धीराः) धीर (पण्डितम्) पण्डित (मन्यमानाः) समझने वाले (जङ्घन्यमानाः) दुःखों के मारे हुए (मूढाः) मूढ़ पुरुष (अन्धेन) अंधे से (नीयमानाः) ले जाये गये (एव) जैसे (परियन्ति) इधर उधर भटकते हैं ॥८॥१७॥

(बालाः) अज्ञानी पुरुष (अविद्यायाम्) अविद्या में (बहुधा) अनेक प्रकार से (वर्त्तमानाः) फंसे हुए (वयम्) हम (कृतार्थाः) कृतार्थ हैं (इति) ऐसा (अभिमन्यन्ति) मानते हैं (यत्) जिस कारण (कर्मिणः) (सकाम) कर्म के कर्त्ता (रागात्) राग=फल में फंसे होने से (उसके परिणाम को) (न प्रवेदयन्ति) नहीं जानते (तेन) इससे (आतुराः) दुख से आतुर (क्षीण, लोकाः) कर्मफल के क्षीण होने पर (च्यवन्ते) गिरते हैं ॥ ९ ॥ १८ ॥

व्याख्या—सकाम यज्ञ करते हुए जो पुरुष उसको श्रेय मोक्ष मार्ग समझते हैं उनकी इन वाक्यों में उपनिषद् ने निन्दा की है। उपनिषद् के पहले वाक्य में कहा गया है कि यह १८ ऋत्विजों से किया हुआ सकाम यज्ञ (निष्काम की अपेक्षा) अस्थिर और अदृढ़ है जो लोग इसी को श्रेय=मोक्ष का साधन मानते हैं वे अज्ञानी पुरुष बुढ़ापे और मृत्यु के बन्धन से नहीं

छूटते। फिर दूसरे वाक्य में उन्हीं, सकाम यज्ञ को श्रेय मानने वालों के लिए कहा गया है कि वे अविद्या-ग्रस्त हैं और दुःखों से सताए हुए होने पर भी अपने को धीर और पण्डित मानते हैं। ऐसे पुरुष अंधों के पीछे चलने वालों के सदृश अंधे ही होते हैं।

फिर तीसरे वाक्य में उन्हींके लिये कहा गया है कि अविद्या ग्रस्त होने पर भी अपने को यह अज्ञानी पुरुष कृतार्थ मानते हैं ये सकाम यज्ञों के कर्त्ता फल में फंसे हुये होने के कारण उस सकाम यज्ञ की फल सीमा को नहीं समझते और शीघ्र ही उस कर्म के फल के क्षीण होने पर गिर जाते हैं। स्पष्ट है कि इन वाक्यों में यज्ञों की निन्दा नहीं की गई है। सकाम यज्ञ अच्छा कर्म है परन्तु अच्छे होने पर भी अपनी सीमा रखते हैं और वह सीमा पुत्र-प्राप्ति आदि अभ्युदय=लोकोन्नति तक सीमित है इस से ईश्वर अथवा मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए जो लोग यज्ञों ही को सब कुछ समझते हैं और उन्हीं को मोक्ष प्राप्ति का साधन मानते हैं, वे वास्तव में अज्ञानी और निन्दा के पात्र हैं और उन्हीं की उपनिषद् ने भी निन्दा की है॥ ७, ८, ९॥ १६, १७, १८॥

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरञ्चाविशन्ति॥
१०॥ १९॥

अर्थ—(प्रमूढाः) कर्म फल में फंसे हुये (इष्ट) श्रौत=श्रुति

के अनुकूल यज्ञ और (आपूर्त्तम्) स्मार्त कर्म = धर्मशाला, कुआं आदि बनाने को (वरिष्ठम्) श्रेष्ठ (मन्यमानाः) मानते हुए (अन्यत्) इससे भिन्न (श्रेयः, न) श्रेय=मोक्ष मार्ग कुछ नहीं (वेदयन्ते) जानते हैं (ते) वे (सुकृते) सकाम कर्म के फल को (नाकस्य) स्वर्ग के (पृष्ठे) ऊपर (अनुभूत्वा) भोग कर (इमम्) इस (लोकम्) लोक को (हीनतरम्, च) और इससे भी हीन लोक को (आविशन्ति) प्रवेश करते हैं ॥१०॥१६॥

व्याख्या—उपनिषद् के इस वाक्य ने, उपनिषद् के मन्तव्य को और भी अधिक साफ कर दिया है अर्थात् जो लोग इष्ट और आपूर्त्त ही को सब से अधिक श्रेष्ठ मानते हुये श्रेय=मोक्ष मार्ग इसके सिवा और कोई नहीं है, ऐसा जानते हैं, ऐसे पुरुष वास्तव में मूढ़ हैं और सकाम यज्ञ के फल स्वर्ग को भोगकर इस लोक=साधारण मनुष्य योनि और इससे भी हीन योनियों को प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥ १६ ॥

नोट—स्वर्ग स्थान विशेष का नाम नहीं है किन्तु मनुष्य योनि में जो पुरुष सांसारिक दुःखों से सर्वथा रहित हैं वे ही स्वर्ग-प्राप्त व्यक्ति हैं। यह विचार कि स्वर्ग कोई ऐसा लोक है जहां प्राणी स्थूल शरीर रहित होकर जाते हैं सर्वथा भ्रम पूर्ण है। शतपथ ब्राह्मण में साफ तौर से लिखा है कि:—

"सह सर्वतनुरेव यजमानोऽमुष्मिल्लोके संभवति ॥

(शतपथ ब्रा० ४। ६। १। १)

अर्थात् यजमान स्वर्ग में समस्त शरीर के साथ उत्पन्न होता है।

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः। सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ ११ ॥ २० ॥

अर्थ—(ये) जो (शान्ताः) शान्त (विद्वांसः) विद्वान् (भैक्षचर्याम्) भिक्षा वृत्ति का (चरन्तः) आचरण करते हुये (अरण्ये) वन=एकान्त में (तपः) तप और (श्रद्धे) श्रद्धा में (उपवसन्ति) रहते हैं (ते) वे (विरजाः) रज=मल रहित होकर (सूर्य द्वारेण) सूर्य की किरणों के द्वारा (प्रयान्ति) जाते हैं (यत्र) जहां (हि) निश्चय (सः) वह (अमृतः) अमर और (अव्ययात्मा) अविनाशी (पुरुषः) पुरुष है। ११ ॥ २० ॥

व्याख्या—भैक्षचर्या=समस्त, धन पैदा करने की वृत्तियों को छोड़कर, भिक्षा द्वारा केवल ८ ग्रास के योग्य अन्न प्राप्त करना और उसी का सेवन करना भैक्षचर्या कही जाती है, इस वाक्य में उपनिषद् ने उन पुरुषों की बात कही है जो संसार में किसी सांसारिक फल की इच्छा नहीं रखते और अपना उद्देश्य केवल ब्रह्म का प्राप्त करना रखते हैं। ऐसे पुरुष शान्ति के वातावरण में जब एकान्तवास करते हुये श्रद्धा के साथ तप का जीवन व्यतीत करते हैं और अल्पाहारी हो जाते हैं तब उनकी आत्म-शुद्धि होती है और वे विधिपूर्वक परमात्मा का साक्षात्कार किया करते हैं ॥ ११ ॥ २० ॥

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्य-कृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ १२ । २१ ॥

अर्थ—(ब्राह्मणः) ब्रह्मविद्या का अधिकारी (कर्मचितान्) कर्म से प्राप्त होने वाले (लोकान्) लोकों को (परीक्ष्य) परीक्षा करके (निर्वेदम्) वैराग्य को (आयात्) प्राप्त होवे (कृतेन) (सकाम) कर्म से (अकृतः) परमेश्वर (न, अस्ति) प्राप्त नहीं होता (तत्, विज्ञानार्थम्) उस (परमेश्वर) के जानने के लिये (सः) वह (जिज्ञासु) (समित्पाणिः) समिधा हाथ में लेकर (श्रोत्रियम्) वेद के जानने वाले (ब्रह्म-निष्ठम्) ब्रह्म में श्रद्धा रखने वाले (गुरुम्) गुरु को (एव) ही (अभिगच्छेत्) प्राप्त होवे ॥ १२ ॥ २१ ॥

व्याख्या—ईश्वर के प्राप्त होने के लिये जिस प्रकार के वाता-वरण की जरूरत है उसके बनाने के साधन उपनिषद् के इस वाक्य में दिये गये हैं।

(१) वह ब्रह्मविद्या में श्रद्धा रखता हो।

(२) सकाम कर्म से प्राप्त होने वाले फलों की जांच करके उनकी अस्थिरता को जान लेवे।

(३) वैराग्य वाला होता हुआ भली भांति समझ लेवे कि ईश्वर-प्राप्ति का साधन सकाम कर्म नहीं है।

(४) वेदज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ गुरु की सेवा में, आदर पूर्वक

ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये उपस्थित होवे।
इन साधनों से संपन्न होकर ही कोई ब्रह्म-ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा कर सकता है॥ १२॥ २१॥

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥ १३। २२॥

अर्थ—(प्रशान्तचित्ताय) शान्त चित्त (शमान्विताय) शम=इन्द्रिय और मन आदिपर अधिकार रखने वाले (उपसन्नाय) समीप आये (तस्मै) उस (जिज्ञासु) के लिये (सः) वह (विद्वान्) विद्वान् (सम्यक्) ठीक ठीक (येन) जिस (विद्या) से (अक्षरम्) अविनाशी (सत्यम) तीनों काल में एक जैसा रहने वाले (पुरुषम्) ईश्वर को (वेद) जाना जाता है (ताम्) उस (ब्रह्मविद्याम्) ब्रह्म विद्या को (तत्त्वतः) यथार्थ रीति से (प्रोवाच) उपदेश करे॥ १३॥ २२॥

व्याख्या—उस वेदज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ गुरु का कर्तव्य यह है कि वह उस शान्त-चित्त और इन्द्रियजित, समीप आये हुये जिज्ञासु के लिये ठीक ठीक उस ब्रह्म का उपदेश करे जिससे अविनाशी और एकरस रहने वाले व्यापक ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है॥ १३॥ २२॥

इति प्रथमे मुण्डके द्वितीयः खण्डः

—❀o❀—

द्वितीय मुण्डक

प्रथमः खण्डः

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥ १ । २३ ॥

अर्थ—(तत्) वह (एतत्) यह (सत्यम्) सत्य है (यथा) जैसे (सुदीप्तात्) अच्छी प्रज्वलित (पावकात्) अग्नि से (सरूपाः) समान रूपवाली (सहस्रशः) सहस्रों (विस्फुलिङ्गाः) चिनगारियां (प्रभवन्ते) उत्पन्न होती हैं (तथा) वैसे ही (सोम्य) हे प्रिय! (अक्षरात्) अविनाशी (ब्रह्म) से (विविधाः) अनेक प्रकार के (भावाः) भाव (प्रजायन्ते) प्रकट होते हैं (च) और (तत्र, एव) उस ही में (अपियन्ति) लीन भी हो जाते हैं।

॥ १ । २३ ॥

व्याख्या—'एतत्' यहां ब्रह्म के संकेत के लिए हैं "तदेतत्सत्यम्" का अर्थ इसलिए यह हुआ कि वह ब्रह्म सत्य है, तब दिखलाई क्यों नही देता ? इस प्रश्न का उत्तर इस वाक्य में दिया गया है। वह उत्तर एक उदाहरण से प्रारम्भ किया गया हैं। जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से अनेक चिनगारियां निकल कर यदि अग्नि दिखलाई न भी देती हो तब भी उसे तो (चिनगारियां) प्रकट

कर देती हैं इसी प्रकार अंगिरा ऋषि शौनक से कहते हैं, कि उस अविनाशी ब्रह्म से अनेक प्रकार के भाव * पदार्थ सृष्टि के उत्पत्ति काल में उत्पन्न होते हैं और अन्त को प्रलयकाल आने पर उसी में लय हो जाते हैं। ये उत्पन्न हुए पदार्थ चिनगारी की तरह अग्निरूप ब्रह्म के न दिखलाई देने पर भी, उसकी सत्ता को प्रकट करते रहते हैं। एक उर्दू के कवि ने बहुत अच्छा लिखा है—

तेरी तकबीर † की देती है गवाही दुनियां।
तेरी‡ हस्ती की शहादत + में है रचना तेरी॥

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥ २॥ २४॥

अर्थ—(हि) निश्चय (दिव्यः) प्रकाशमान् (अमूर्तः) मूर्ति रहित (पुरुषः) सर्वव्यापक (स) वह (ब्रह्म) (बाह्य, आभ्यन्तरः) बाहर और भीतर=सर्वत्र वर्त्तमान (अजः) जन्म रहित (हि) निश्चय (अप्राणः) प्राण रहित (अमनाः) मन से शून्य (शुभ्रः) पवित्र (परतः अक्षरात्) सूक्ष्म अवि-

---

* श्रीमद् शंकराचार्य तथा पं० भीमसेन आदि अनेक विद्वानों ने "भावा" का अर्थ 'पदार्थाः" किया है।

† बड़प्पन।

‡ सत्ता।

+ गवाही।

नाशी। (प्रकृति और जीव) से (परः) सूक्ष्म है ॥ २ ॥ २४ ॥

व्याख्या—उसी ब्रह्म के कुछेक गुणों का वर्णन इस वाक्य में किया गया है जिससे उनकी सत्ता का कुछ अनुमान किया जा सके—

(१) दिव्य अलौकिक प्रकाशवाला है। कठोपनिषद् में उसके प्रकाश को धूम=विकार रहित प्रकाश कहा गया है।*

(२) अमृतः=शरीर रहित=अप्राकृतिक।

(३) पुरुषः=सर्वत्र व्यापक।

(३) संसार में आकाशवत् सब वस्तुओं के भीतर भी है और बाहर भी।

(५) अज=जन्म रहित अर्थात् नित्य।

(६) अप्राणः=प्राण रहित परन्तु प्राण से अधिक शक्ति वाला।

(७) अमनाः=मन रहित परन्तु मनन शील।

(८) शुभ्रः=पवित्र।

(९) परतःपरः=सूक्ष्म से भी सूक्ष्म ॥ २ ॥ २४

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ ३ ॥ २५।

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च

---

* देखो 'ज्योतिरिवाधूमकः।' कठोपनिषद् । ४ । १३ ।

वेदा वायुः प्राणा हृदयंविश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ ४ ॥ २६ ॥

अर्थ—(एतस्मात्) इसी (अविनाशी पुरुष) से (प्राणः) प्राण (मनः) मन, (सर्वेन्द्रियाणि) समस्त इन्द्रियां (च) और (खम्) आकाश (वायुः) वायु (ज्योतिः) अग्नि (आपः) जल (विश्वस्य) विश्व=सब की (धारिणी) धारण करने वाली (पृथिवी) पृथिवी (जायते) उत्पन्न होती है ॥ ३ ॥ २५ ॥

(अस्य) इस पुरुष का (अग्निः) द्यु लोक (मूर्धा) मस्तक (चन्द्र सूर्यौ) चन्द्रमा और सूर्य्य (चक्षुषो) आंख (दिशः) दिशायें (श्रोत्रे) कान (वेदाः) वेद (विवृताः फैली हुई (वाक्) वाणी (वायुः) वायु (प्राणः) प्राण (विश्वम्) समस्त जगत् (हृदयम) हृदय (पद्भ्याम्) पैरों से (पृथिवी) भूमि (उपलक्षित होती हैं) (हि) निश्चय (एषः) यह (सर्वभूतान्तरात्मा) समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा है ॥ ४ ॥ २६ ॥

व्याख्या—इसी ब्रह्म से प्राण, मन, समस्त इन्द्रिय तथा पंचभूत आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी उत्पन्न हुए अर्थात् वह समस्त ब्रह्मांड के पदार्थों का निमित्त कारण है, उपादान कारण प्रकृति है (२) उसी ब्रह्म का विराट् रूप पुरुष सूक्त की तरह यहां वर्णित है—

अग्नि=मूर्धा ।

सूर्य्य, चन्द्र=आंख ।

दिशा = श्रोत्र ।

वेद = वाणी ।

वायु = प्राण ।

विश्व = हृदय ।

पृथिवी = पांव ।

इस प्रकार वह समस्त ब्रह्मांड में परिपूर्ण और समस्त भूतों का अन्तरात्मा है अर्थात् समस्त भूत उसी की दी हुई शक्ति से अपने अपने काम करने में समर्थ हैं ॥ २, ४ ॥ २५ २६ ॥

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्य्यः सोमात् पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् । पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूताः ॥२७॥

अर्थ—(तस्मात् , उस पुरुष से (अग्निः) अग्नि (अग्निकुण्ड रूप में प्रगट होता है (सूर्यः) सूर्य (यस्य) जिस (यज्ञ) की (समिधः) लकड़ी है (सोमात्) सोम से (पर्जन्यः) (जलरूप) बादल और (पृथिव्याम्) पृथिवी में (ओषधयः) औषधियां (उत्पन्न होती हैं) (पुमान्)पुरुष (रेतः) (औषधि से उत्पन्न) वीर्य (योषितायाम्) स्त्री में (सिञ्चति) सींचता है (बह्वीः) बहुत (प्रजाः) प्रजायें इस प्रकार (पुरुषात्) पुरुष से (सम्प्रसूताः) उत्पन्न होती हैं ॥ ५ ॥ २७ ॥

व्याख्या—उस (विराट्) पुरुष से, जिसका विवरण पहले दिया गया है (ब्रह्मांड रूपी) अग्नि प्रगट हुई जिस (यज्ञ) की

समिधा सूर्य है और यज्ञ के फल स्वरूप सोम (यज्ञीय वाष्प) से बादल और उससे पृथिवी पर औषधियां उत्पन्न होती हैं उन औषधियों से वीर्य उत्पन्न होता है उसी वीर्य को जब पुरुष स्त्री के शरीर में सिंचन करता है तब बहुत सी प्रजायें उस पुरुष के निमित्त से उत्पन्न होती हैं ॥ ५ ॥ २७ ॥

नोट–उपनिषद् में जो यह सृष्टि की उत्पत्ति का विवरण दिया गया है वह पूरा और क्रम पूर्वक नहीं है बीच की अनेक कड़ियां छोड़ दी गई हैं, उपनिषद् को यह इष्ट भी नहीं था कि जगदुत्पत्ति का विवरण देना अपना ध्येय बनावें उनका इष्ट तो ब्रह्म विद्या का विवरण देना था उसीके खोलने और स्पष्ट करने के लिये जितना हाल सृष्टि की उत्पत्ति का देना आवश्यक था उतना दे दिया।

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च। संवत्सरं च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥ ६ ॥ २८ ॥

अर्थ—(तस्मात्) उस (पुरुष) से (ऋचः) ऋचा (साम) साम (यजूंषि) यजु (तीनों प्रकार के मंत्र जो चारों वेदों में हैं) (दीक्षा) संस्कार (च) और (सर्वे) समस्त (यज्ञाः) यज्ञ (क्रतवः) बृहद् यज्ञ (दक्षिणाः) दान (च) और (संवत्सरम्) काल के अंग (च) और (यजमानः) यज्ञ कर्ता (च) और (लोकाः) लोक (यत्र) जहां (सोमः) चन्द्रमा (पवते) पवित्र करता है (यत्र) जहां (सूर्यः) सूर्य (पवित्र करता है) ॥ ६ । २८

व्याख्या—उसी विराट् पुरुष (ईश्वर) से, जहां जगदुत्पत्ति होती है और स्त्री पुरुष का जन्म होता है, वहां पुरुषों की ज्ञान प्राप्ति के लिये तीन प्रकार के मन्त्र जो चारों वेदों में फैले हुए हैं उत्पन्न होते हैं और उन्हीं से दीक्षा, छोटे और बड़े यज्ञ और सम्वत्सर (समय) की उत्पत्ति होती है और यजमान और लोक भी उत्पन्न होते हैं । जिन्हें सूर्य और चन्द्र पवित्र करते रहते हैं ।। ६ ।। २८ ।।

नोट—काल और समय में अन्तर है । काल नित्य है परन्तु समय अनित्य है समय और उसके विभाग दिन, रात, वर्ष आदि की उत्पत्ति सूर्य की उत्पत्तिके बादसे होती है परन्तु काल उस समय भी रहता है जबकि सूर्य नहीं रहता यथा प्रलयकाल इत्यादि ।

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्याः मनुष्याः पशवो वयांसि । प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ।। ७ ।। २९ ।।

अर्थ—(तस्मात्) उस (पुरुष) से (बहुधा) अनेक प्रकार के (देवाः) देव (साध्याः) साधक (मनुष्याः) मनुष्य (पशवः) पशु (वयांसि) पक्षी (प्राणापानौ) प्राण और अपान (व्रीहियवौ) धान और जौ (च) और (तपः) तप (श्रद्धा) सचाई को धारण करने वाली बुद्धि (सत्यम्) सत्य=धर्म (ब्रह्मचर्यं) ब्रह्मचर्य (च) और (विधिः) कर्त्तव्य विधि (सम्प्रसूताः) उत्पन्न हुई ।। ७ ।। २९ ।।

व्याख्या—इसी (विराट् पुरुष) से अनेक प्रकार के देव (उत्तम कोटि के मनुष्य) साधक (साधना करने वाले मनुष्य) और मनुष्य (साधारण कोटि के मनुष्य) पशु, पक्षी, प्राण और अपान आदि प्राणियों के जीवन साधन, धान और जौ आदि प्राणियों के खाद्य वस्तु तथा तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और अन्य कर्त्तव्य विधियों को इसलिए उत्पन्न किया कि जिस से मनुष्य लोक और परलोक दोनों की सिद्धि कर सकें ॥ ७ ॥ २९ ॥

सप्तप्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः समिधः सप्तहोमाः । सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥ ८ ॥ ३० ॥

अर्थ—(सप्त प्राणाः) सात प्राण (सप्तार्चिषः) सात ज्वालायें (सप्त समिधः) सात समिधायें (सप्त होमाः) सात होम (इमे) ये (सप्त, लोकाः) सात लोक (येषु) जिन में (गुहाशयाः) हृदयाकाश में (निहिताः) स्थित (सप्त, सप्त) सात सात (प्राणाः) प्राण (चरन्ति) विचरते हैं (तस्मात्) उसी से (प्रभवन्ति) उत्पन्न होते हैं ॥ ८ ॥ ३० ॥

व्याख्या—उसी (विराट् पुरुष) से निम्न वस्तुयें भी उत्पन्न होती हैं:—

नाम	लौकिक यज्ञ में उनका स्थान	आध्यात्मिक यज्ञ में उनका स्थान
७ प्राण	७ ऋत्विक्, इस प्रकार	२ आंख

	२ यज्ञमान पति तथा पत्नी	२ कान
	१ ब्रह्मा	१ मुख
	४ ऋत्विक्	२ नासिका — ७ इन्हीं को सप्तऋषि भी कहते हैं और इनमें प्राण विचरता है।
७ ज्वालायें	७ प्रकार की ज्वालायें काली और कराली इत्यादि	७ इन्द्रियों की शक्ति जिससे वे विषय का ग्रहण करती हैं।
७ होम	७ प्रकार का लौकिक यज्ञः— २ दैनिक प्रातः तथा सायंकाल १ दर्श १ पौर्णमास १ चातुर्मास्य १ आग्रयण १ सांवत्सरिक	ये उपर्युक्त ७ इन्द्रियां जब सीमा में रहते हुये अपने विषयों को ग्रहण करती हैं तो वे इंद्रियव्यापार यज्ञ रूप ही होता है।
७ लोक	७ स्थान जहां जहां ये यज्ञ किये जाते हैं	७ इन्द्रियगोलक ही सप्त लोक हैं

गुहा नाम छिद्र गढ़े या खाली जगह का है। जिस समय लौकिक यज्ञ में इसका प्रयोग होगा इसके अर्थ ऋत्विजों के निवास स्थान होंगे परन्तु जब यह शरीर के अन्तर्गत प्रयुक्त होगा तब इसके अर्थ हृदयाकाश या इन्द्रियों के छिद्र होंगे इसी गुहा में रहने वाले सात सात ऋत्विक् या प्राण उपर्युक्त सात लोकों में विचरा करते हैं ॥ ८।३० ॥

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः। अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥ ९।३१ ॥

अर्थ—(अतः) इस (पुरुष) से (समुद्राः) समुद्र (च) और (सर्व) समस्त (गिरयः) पहाड उत्पन्न होते हैं। (अस्मात्) इसी से (सर्व, रूपाः) सब प्रकार की (सिन्धवः) नदियां (स्यन्दन्ते) बहती हैं (च) और (रसः) रस उत्पन्न होते हैं (येन) जिससे (एषः) यह (अन्तरात्मा) जीवात्मा (भूतैः) भौतिक शरीर साथ (तिष्ठते) ठहरता है ॥ ९।३१ ॥

व्याख्या—उसी पुरुष की सत्ता सामर्थ्य से समुद्र, पहाड़ और नदियां उत्पन्न होकर अपना २ काम करती हैं और उसी के सामर्थ्य से अनेक प्रकार के रस भी उत्पन्न होते हैं जिनके द्वारा शरीर स्थित रहकर जीवात्मा का निवास स्थान बनता है ॥९।३१॥

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। एतयो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थि विकिरतीह सोम्य ॥१०।३२॥

अर्थ—(इदम्) यह (विश्वम्) विश्व (पुरुष एव) पुरुष ही है (कर्म) कर्म (तपः) तप (परामृतम्) परम अमृत रूप (ब्रह्म) ब्रह्म है (सोम्य) हे प्रिय ! (यः) जो पुरुष (गुहायाम्) हृदयाकाश में (निहितम्) स्थित (एतत्) इस (पुरुष) को (वेद) जानता है (सः) वह (इह) इस जगत् में (अविद्या-ग्रन्थिम्) अविद्या ग्रन्थि को (विकिरति) खोल देता है ॥१०॥३२॥

व्याख्या—एक लोहे के गोले को जब खूब तपाते हैं और तप कर वह अग्निमय होकर दहकती हुई अग्नि की तरह लाल हो जाता है तब उस गोले को यदि अग्नि कहो तब भी ठीक है क्योंकि वह सभी को भस्म कर सकता है। यदि उसे लोहा कहो तब भी ठीक है क्योंकि वास्तव में वह लोहे का पिंड है। ठीक इसी प्रकार इस ब्रह्मांड रूपी लोहे के गोले में ब्रह्म रूपी अग्नि, अपने सर्व व्यापकत्व गुण से, ओत प्रोत है और इस गोले को ब्रह्माग्निमय बना रहा है, ऐसी हालत में इस ब्रह्मांड को यदि प्राकृतिक जगत् कहें तब भी ठीक है क्योंकि यह बना ही प्रकृति से है और यदि कह देवें कि ये सब ब्रह्म है तब भी ठीक है क्योंकि ब्रह्म उसमें अग्नि की तरह ओत प्रोत है। उपनिषद् के इस वाक्य में इसीलिए इस विश्व को पुरुष (ब्रह्म) कहा गया है।

कर्म और तप ब्रह्म की प्राप्ति के असंदिग्ध कारण हैं और असंदिग्ध कारण के स्थान पर कार्य का प्रयोग देखा जाता है जैसा एक ब्राह्मण में एक जगह लिखा है कि "आयुर्वै घृतम् ।" घृत,

आयु वृद्धि का, असंदिग्ध कारण है इसलिये आयु ही को इस वाक्य में घृत कहा गया है। इसी प्रकार कर्म और तप को भी इस उपनिषद् वाक्य में ब्रह्म कहा गया है। कर्म और तप को ईश्वर के व्यापकत्व से भी लोहे के गोले के सदृश, ब्रह्म कहा जा सकता है—

उपनिषद् के इस वाक्य में शिक्षा यह दी गई है कि जो पुरुष ऐसे महान ईश्वर को अपने हृदय में स्थित देखता है और उस का ज्ञान प्राप्त किया करता है वह समस्त अविद्याओं, मिथ्या ज्ञानों से छूट जाया करता है ॥ १० ॥ ३२ ॥

इति द्वितीय मुण्डके प्रथमः खण्डः

—*—

द्वितीय मुण्डक

द्वितीयो खण्डः

आविः सन्निहितं गुहांचरन्नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्।
एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञाना-
द्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्॥ १॥ ३३॥

अर्थ—(आविः) प्रकाशमान (सन्निहितम्) सब में स्थित (गुहाचरं, नाम) हृदयाकाश में विचरने वाला नाम वाला (महत्) महान (पदम्) पदवाला (अत्र) इसमें = ऐसे ब्रह्म में (एजत्) चलने वाले (प्राणत्) श्वास लेने वाले (च) और (निमिषत्) निमेष + पलक मारने वाले (एतत्) ये सब (समर्पितम्) प्रविष्ट हैं (यत्) जो (सत्) सूक्ष्म (असत्) महान् (वरेण्यम) ग्रहण करने योग्य (वरिष्ठम्) सब से श्रेष्ठ (प्रजानाम्) प्राणियों के (विज्ञानात्) विशेष ज्ञान से (परम) आगे है (तद्) उस (एतत्) इस (ब्रह्म) को (जनाथ) जानो॥ १॥ ३३॥

व्याख्या—वह ब्रह्म जो सर्वव्यापक, सर्वाधार, अत्यन्त सूक्ष्म और महत्तम है उसे हृदयाकाश में विचरने वाला केवल इसलिये कहा जाता है कि मनुष्य उसे अपने अन्दर की ओर चलकर हृदय मन्दिर में प्राप्त कर सकता है। यही वह स्थान है

जहां अन्तर्मुखी आत्मा और ब्रह्म का संगम होता है और आत्मा उसका ज्ञान प्राप्त किया करता है ॥ १ ॥ ३३ ॥

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु यस्मिन् लोका निहिता लोकिनश्च । तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ् मनः तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ॥ २ ॥ ३४ ॥

अर्थ—(यत) जो (अर्चिमद्) प्रकाशमान है (यत्) जो (अणुभ्यः) सूक्ष्म से (अणुः) सूक्ष्म है (यस्मिन्) जिस में (लोकाः) समस्त लोक (च) और (लोकिनः) उनके निवासी (निहिताः) स्थित हैं (तद्, एतत्) वह यह (अक्षरम्) अविनाशी (ब्रह्म) और महान् है (सः) वह (प्राणः) (सब का जीवनाधार होने से) प्राण है (तद्, उ) वही (वाङ्) वाणी और (मनः) मन (का प्रवर्तक होने से वाणी और मन भी) है (तद्, एतद्) वह यह (सत्यम्) सत्य (तद्) वह (अमृतम) अमर और (तद्) वह (वेद्धव्यम्) वेधने (लक्ष्य बनाने) के योग्य है (सोम्य) हे सोम्य (इसलिये उसको) (विद्धि वेध= अपना लक्ष्य=निशाना बना ॥ २ ॥ ३४ ॥

व्याख्या—वह प्रकाशस्वरूप ब्रह्म जो महान् से महान् होने से, संपूर्ण लोकों का आश्रय स्थान है और जो शरीर और जीवात्मा के संयोग द्वारा मन में मनन, वाणी में वाणित्व और प्राण में प्राणत्व प्रदान किया करता है इसीलिए उसे मन, वाणी और प्राण भी कहते हैं । सत्य और अमर होने से, लक्ष्य=अन्तिम

ध्येय बनाने योग्य है और इसीलिये उपनिषद् कहती है कि उसे प्रत्येक मनुष्य को अपना अन्तिम ध्येय बनाना चाहिये क्योंकि उसे अपना अन्तिम ध्येय बनाने से, मनुष्यों के समस्त कार्य उस लक्ष्य से प्रभावित होंगे और वे कोई भी कार्य ऐसा न कर सकेंगे जो उन्हें सत्यता और अमरता के पथ से विचलित कर सके ॥ २ ॥ ३४ ॥

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा निशितं संधीयत्। आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्ये तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥ ३ । ३५ ॥

अर्थ—(औपनिषदम्) उपनिषद्=ब्रह्म विद्या रूपी (महास्त्रम्) महा अस्त्र (धनुः) धनुष (गृहीत्वा) पकड़ कर (हि) निश्चय के साथ उसमें (उपासा) उपासना के (निशितम्) तीक्ष्ण (शरम्) वाण की (सन्धीयत) जोड़े (तद्) उस ब्रह्म में (भावगतेन) लीन हुये (चेतसा) चित्त से (आयम्य) खींच कर (तद्, एव) उस ही (लक्ष्यम्) लक्ष्य=ब्रह्म को (सोम्य) हे सोम्य। (विद्धि) बीध ॥ ३ ॥ ३५ ॥

व्याख्या—उपनिषद् के इस वाक्य में यह शिक्षा दी गई है कि किस प्रकार ब्रह्म रूपी लक्ष्य को बींधना चाहिये:—

(१) ब्रह्म विद्या तो उस लक्ष्य के बींधने के लिये धनुष है।

(२) उपासना अर्थात् ब्रह्मविद्या (उपनिषद्) में बतलाये हुए, ब्रह्म प्राप्ति के विधानों को, काम में लाने रूप वाण को, उस धनुष में लगाना।

(३) ब्रह्म में चित्त को लीन करना मानो उस बाण का खींचना है।

(४) बाण का चलना मानो ब्रह्म रूपी लक्ष्यको बींध लेना है।

इस अलंकार का भाव यह है कि ब्रह्म प्राप्ति के लिये जिज्ञासु को उपनिषदों के अध्ययन द्वारा ब्रह्म प्राप्ति के साधनों का ज्ञान प्राप्त करके उसे कार्य में परिणत करना चाहिए। इसी क्रिया को उपासना कहते हैं। उपासना करते हुए जिज्ञासु को अपने चित्त को ब्रह्म में लीन कर देना चाहिए। चित्त के ब्रह्म में लीन कर देने का भाव यह है कि उसकी बाहर जानेवाली वृत्तियां निरुद्ध होगई और आत्मा की अंतर्मुखी वृत्ति जागृत होकर अपना काम करने लगी। इसी से परमात्मा का साक्षात्कार हुआ करता है ॥३॥३५॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ ४। ३६ ॥

अर्थ—(प्रणवः) ओंकार (धनुः) धनुष है (हि) निश्चय (आत्मा) जीवात्मा (शरः) बाण है (तद्, ब्रह्म) वह ब्रह्म (लक्ष्यम्) लक्ष्य (उच्यते) कहा जाता है (अप्रमत्तेन) प्रमाद आलस्य रहित (चित्त) से (वेद्धव्यम्) बीधना चाहिए (शरवत्) बाण के तुल्य (तन्मयः) तन्मय उसमें एकाग्र (भवेत्) होवे।
४॥ ३६ ॥

व्याख्या—उपनिषद् के इससे पूर्व कहे हुए वाक्य में जो शिक्षा अलंकार द्वारा दी गई थी वही शिक्षा इस वाक्य में एक दूसरे अलंकार के द्वारा वर्णित है:—

(१) प्रणव अर्थात् ओंकार धनुष है।

(२) जीवात्मा बाण है।

(३) लक्ष्य जहां निशाना लगाना ब्रह्म है।

(४) उपर्युक्त धनुष द्वारा लक्ष्य के बींधने के लिए दो बातों की जरूरत है:—

(क) जिज्ञासु प्रमाद (आलस्य) रहित हो।

(ख) चित्त को एकाग्र किये बिना कोई साधारण से साधारण निशाना भी नहीं लग सकता इसलिए अभूतपूर्व लक्ष्य के बींधने के लिए तो लक्ष्य में चित्त का तन्मय (एकाग्र) होना अनिवार्य है।

(५) जब जिज्ञासु इन दो बातों को काम में लाकर अपनी आत्मा को ओंकार के जप आदि विधानों में लगाता है तभी वह इस योग्य होता है कि ब्रह्म को प्राप्त कर सके ॥ ४ ॥ ३६ ॥

अस्मिन् द्यौः पृथ्वी चान्तरिक्षमोतं मनःसह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आतमानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः ॥ ५ ॥ ३७ ॥

अर्थ—(अस्मिन्) इस (पुरुष) में (द्यौः) प्रकाश वाले समस्त लोक (पृथिवी) प्रकाश रहित समस्त लोक (च) और (अन्तरिक्षम्) आकाश (च) और (सर्वैः प्राणैः) समस्त प्राणों के (सह) साथ (मनः) मन (ओतम्) समर्पित है (तम, एव) उस ही (एकम्) एक (आत्मानम्) आत्मा को (जानथ) जानो (अन्याः) उससे भिन्न अन्य (वाचः) बातों को

(विमुञ्चथ) छोड़ो (एषः) यही (आत्म) (अमृतस्य) अमृत= मोक्ष का (सेतुः) पुल है । ५ । ३७ ॥

व्याख्या—वह पुरुष (ब्रह्म) जिसके लक्ष्य बनाकर बींधने की बात इससे पहले दो वाक्यों में कही जा चुकी है, क्यों प्राप्त करने योग्य है इसका उत्तर, उपनिषद् के इस वाक्य में दिया गया है, वह उत्तर इस प्रकार है:—

उस पुरुष (ब्रह्म) में एक ओर समस्त प्रकाश और अप्रकाश वाले लोक और अन्तरिक्ष स्थित हैं तो दूसरी ओर प्राणों के साथ मन भी उसी को समर्पित है। ऐसा महान परब्रह्म परमेश्वर अद्वितीय होते हुये अमरता का पुल भी है। अमर जीवन प्राप्त करने के लिये इसी पुल से गुजरना होगा। इसलिये आवश्यक है कि मनुष्य उस ओर चले। इसीलिये उसे लक्ष्य बनाने और लक्ष्य बना कर उसके बींधने का विधान उपनिषद् में किया गया है। ५ । ३७ ॥

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः। ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥ ६ ॥ ३८ ॥

अर्थ—(यत्र) जहां (रथनाभौ) रथनाभि=धुरे में (अरा, इव) अरों के समान (नाड्यः) नाड़ियां (संहताः) जुड़ी हुई हैं (सः, एव) वह यह (आत्मा) (बहुधा) अनेक प्रकार से (जायमानः) प्रकट हुआ (अन्तः) भीतर (चरते) विचरता

है (आत्मानम्) उस आत्मा को (ओम्) ओम (इति) ऐसा और (एवम) इस प्रकार (समझ कर) (ध्यायथ) ध्यान करो वह (तपसः) अंधकार से (परस्तात्) परे और (पाराय) पार होने के लिए है। (वः) तुम्हारा (स्वस्ति) कल्याण हो ॥६। ३८॥

व्याख्या—उपनिषद् के इस वाक्य में उसी ब्रह्म के प्राप्ति स्थान का निर्देश किया गया है। ब्रह्म यद्यपि अपने विभुत्व गुण से सभी स्थानों पर मौजूद है परन्तु उसे प्राप्त करने वाला आत्मा प्राप्त वहीं कर सकता है जहां वह भी मौजूद हो।

शरीर के अन्दर हृदय वह स्थान है जहाँ समस्त नाड़ियां उसी तरह से एकत्रित हैं जिस तरह पहिये के धुरे में उसके सब अरे एकत्रित होते हैं। इसी स्थान में जीव निवास करता है और ब्रह्म भी अपने व्यापकत्व से यहां मौजूद होता है। इसलिये यही वह जगह है जहां आत्मा, परमात्म-साक्षात्कार कर सकता है। इसीलिये उपनिषद् में इस स्थान का जिक्र करते हुये वहां उस परमात्मा (ओम्) के विचरने की बात कही गई है और यह भी शिक्षा दी गई है कि वहीं उस (ब्रह्म) का ध्यान करना चाहिये। इसी ध्यान से ध्याता का कल्याण होता है और इसी से वह अंधकार से परे और संसार रूपी सागर के पार हुआ करता है।६।३८

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि। दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥ मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय। तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति

धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥ ७ ॥ ३६ ॥

अर्थ—(यः) जो (सर्वज्ञः) सब का ज्ञाता (सर्ववित्) सब का जानने वाला (यस्य) जिसकी (भुवि) जगत् में (एषः) यह (व्योम्नि, ब्रह्मपुरे) हृदयाकाश रूपी ब्रह्मपुर में (प्रतिष्ठितः) स्थित है (मनोमयः) मननशील (प्राण, शरीर, नेता) प्राण और शरीर का चलाने वाला (हृदयम्) हृदय को (अन्ने) अन्नमय कोश में (सन्निधाय) रखकर (प्रतिष्ठितः) स्थित है । (तत्) उसके (विज्ञानेन) विशेष ज्ञान से (धीराः) धीर पुरुष (आनन्दरूपम्) आनन्द रूप (अमृतम) अमृत को (यत्) जो (विभाति) प्रकाशमान है (परिपश्यन्ति) सब ओर देखते (प्राप्त होते) हैं ॥ ७ ॥ ३६ ॥

व्याख्या—हृदय को अन्न में रखने के दो अभिप्राय हो सकते हैं, और दोनों उपयोगी हैं—(१) एक यह है कि "यथा अन्नं तथा मनः ।" की उक्ति के अनुसार मन का शुद्धाशुद्ध होना अन्न के शुद्ध और अशुद्ध होने पर निर्भर होता है इसलिये मन को शुद्ध रखने के लिये आवश्यक है कि जिज्ञासु शुद्ध अन्न का सेवन करे, यह बात उसी अवस्था में संबन्धित होती और हो सकती है जब हृदय का अर्थ मन समझा जावे ।

(२) यदि हृदय का अर्थ मन न समझा जावे अपितु वह स्थूल पिंड माना जावे जो रक्त को शुद्ध करके समस्त शरीर में भेजा करता है तब हृदयके अन्न में रखने का अभिप्राय यह होगा

कि हृदय स्थूल पिंड होने से स्थूल शरीर का भाग है इसलिये उसका अन्न अर्थात् अन्नमयकोष=स्थूल शरीर में होना था रखना स्पष्ट ही है।

अस्तु, उपनिषद् का यह वाक्य इस से पहले वाक्य की पुष्टि करता हुआ प्रकट करता है कि वह परमेश्वर सर्वज्ञ है और समस्त ब्रह्माण्ड जुबाने हाल=नामरूपात्मक जिह्वा से उसकी महिमा प्रकट कर रहा है और प्राणियों के हृदय मन्दिर में स्थित है और मनन शील होते हुए शरीर और उसके अन्दर प्राण दोनों को अपने अपने कार्य के करने की योग्यता देने के द्वारा उनका संचालक है और हृदय को अन्न में रखकर उसी में प्रतिष्ठित है। जिज्ञासु इस प्रकार उसका विशेष ज्ञान प्राप्त करके उस आनन्द और अमरता के पुञ्ज को प्राप्त किया करता है ॥७॥३९॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ ८ ॥ ४० ॥

अर्थ—(तस्मिन् , उस (परावरे) सूक्ष्म और महान् (ईश्वर) के (दृष्टे) देख या जान लेने पर (हृदयग्रन्थिः) हृदय की गांठ (अर्थात् बंधन का हेतु वासना) (भिद्यते) खुल जाती है (सर्वसंशयाः) समस्त संशय (छिद्यन्ते)नष्ट हो जाते हैं (च) और (अस्य) इस (मुमुक्षु) के (कर्माणि) समस्त (वासना पैदा करनेवाले सकाम) कर्म (क्षीयन्ते) क्षीण हो जाते हैं ॥८॥४०॥

व्याख्या—उपनिषद् के इस वाक्य में जिज्ञासु की उस अवस्था

का वर्णन् है जो साक्षात्कार करने से उसकी हो जाया करती है अर्थात् (१) जन्म का हेतु वासना नष्ट हो जाती है (२) जिज्ञासु का हृदय, संशय शून्य, श्रद्धा का मन्दिर बन जाता है (३) बंधन के हेतु वासनोत्पादक सकाम कर्म नष्ट हो जाते हैं॥ ८॥ ४०॥

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥ ९॥ ४१॥

अर्थ—(हिरण्मये) प्रकाशमय (परे) सूक्ष्म (कोषे) कोश में (विरजम्) मलरहित (निष्कलम्) कलारहित (ब्रह्म) ब्रह्म है (तत्) वह (शुभ्रम्) पवित्र (ज्योतिषाम्) प्रकाशों का भी (ज्योतिः) प्रकाश है (यत्) उसको (आत्मविदः) ब्रह्म विद्या के जानने वाले (विदुः) जानते हैं॥ ९॥ ४१॥

व्याख्या—प्रकाशमय सूक्ष्म आनन्दमय कोश में वह ब्रह्म, जो मल और कलारहित, पवित्र और समस्त प्रकाशों का प्रकाश है, स्थित है। उसे ब्रह्म विद्या तथा उसके अनुकूल अभ्यासों के करने व जाननेवाले, जान लिया करते हैं॥ ९॥ ४१॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ १०॥ ४२॥

अर्थ—(तत्र) वहां (सूर्य्यः) सूर्य (न भाति) नहीं प्रकाशित होता और (न) न (चन्द्रः) चन्द्रमा और (तारकम्) तारागण और (न) न (इमाः) ये (विद्युतः) बिजलियां (भान्ति)

चमकती हैं फिर (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि (कुतः) कहां से (प्रकाशित हो सकता है। (तम्) उस (एव) ही के (भांतम्) प्रकाशित होने पर (सर्वम्) यह सब (अनुभाति) पीछे से प्रकाशित होता है। (तस्य) उसी के (भासा) प्रकाश से (इदम् सर्वम) यह सब (विभाती) प्रकाशित होता है ॥ १० ॥ ४२ ॥

व्याख्या—यह ब्रह्म अलौकिक प्रकाश वाला है इसीलिये उसे उपनिषद् में एक जगह "ज्योतिरिव कधूमकः ।" कहा गया है अर्थात् वह विकार रहित ज्योतिर्मय है।

उपनिषद् के इस वाक्य में इसीलिये कहा गया है कि सूर्य्य चन्द्र, तारा, विद्युत् और अग्नियों के प्रकाश, जिनमें किसी न किसी प्रकार के विकार रहते हैं, ईश्वर तक नहीं पहुँच सकते अर्थात इन प्रकाशों से यदि कोई उस (ईश्वर को) देखना चाहे तो नहीं देख सकता। उसके जगदुत्पत्ति द्वारा, प्रकाशित हो जाने ही पर ये सब प्रकाश, उत्पन्न हुआ करते हैं ॥ १० ॥ ४२ ॥

ब्रह्मवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चात् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वंच प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥११॥४२॥

अर्थ—(इदम्) यह (अमृतम) मृत्यु रहित (ब्रह्म) ब्रह्म (एव) ही है (पुरस्तात्) आगे (ब्रह्म) ब्रह्म (पश्चात्) पीछे (ब्रह्म) ब्रह्म (दक्षिणतः) दाहिने (च) और (उत्तरेण) बायें (अधः) नीचे च) और (उर्ध्वम्) ऊपर भी (प्रसृतम्) वह फैला हुआ है (इदम) यह (विश्वम्) विश्व (इदम्) यह

(वरिष्ठम्) अत्यन्त श्रेष्ठ (ब्रह्म, एव) ब्रह्म ही है ॥११॥४३॥

व्याख्या—उपनिषद् के इस वाक्य में, प्रकरण को समाप्त करते हुए, शिक्षा दी गई है कि जिस समय उपासक प्रभु के प्रेम और भक्ति में मस्त होकर अपनी सुध बुध भुला देता है तब उसे प्रत्येक दिशा में वही दिखाई देता है और "जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।" की लोकोक्ति के अनुसार विश्व और विश्व की प्रत्येक वस्तु उसे ब्रह्मरूप ही में दिखाई देने लगती है। यह उपासना का अन्तिम और उत्कृष्ट रूप है, प्रेम की चरम सीमा और भक्ति की पराकाष्ठा है—इसी अवस्था को प्राप्त होने से जिज्ञासु कृतकृत्य हो जाया करता है॥ ११ ॥ ४३ ॥

इति द्वितीये मुण्डके द्वितीयः खण्डः

तृतीय मुण्डक

प्रथमः खण्डः

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयो-रन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ।१।४४।।

अर्थ—(सयुजा) साथ रहने वाले (सखाया) मित्र के समान (द्वा) दो (सुपर्णा) पक्षी (समानम्) एक ही (वृक्षम्) वृक्ष को (परिषस्वजाते) आश्रय करते हैं (तयोः) उन दोनों में से (अन्यः) एक (जीवात्मा) (पिप्पलम्, स्वादु) स्वादिष्ट फलों को (अत्ति) खाता है (अन्यः) दूसरा (अनश्नन्) न खाता हुआ (अभिचाकशीति) देखता है। १। ४४ ।।

व्याख्या—यह ऋग्वेद मंडल १ सूक्त १६४ का २० वां मंत्र है जिसे उपनिषद् ने यहां उद्धृत किया है। मन्त्र में अलंकारिक भाषा में ईश्वर, जीव और प्रकृति का वर्णन है। प्रकृति से उत्पन्न हुआ यह ब्रह्मांड एक पेड़ के सदृश है। इस पेड़ पर दो पक्षी हैं जिनमें से एक वृक्ष के स्वादिष्ट फलों को खाता है और दूसरा न खाता हुआ साक्षीमात्र है। ब्रह्मांड में ईश्वर अपने व्यापकत्व से ओत-प्रोत है और जीव मनुष्यादि योनियों में आकर सांसारिक वस्तुओं का उपभोग किया करता है। इसलिये जीव वह पक्षी है जो फलों को खाता है और साक्षीमात्र रहनेवाला पक्षी

ईश्वर है। मन्त्र में प्रयुक्त 'सयुजा' और 'सखाया' शब्द ईश्वर और जीव दोनों के विशेषण हैं जिसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर और जीव के नित्यत्व में कोई भेद नहीं है और प्रकृति के लिये भी ज़ब पेड़ से उपमा देकर उसी को दोनों पक्षियों का आश्रय स्थान बतलाया गया है तो उसका भी नित्यत्व ईश्वर और जीव के समान ही हुआ। अस्तु, यहां इस खंड का एक वेद-मंत्र से आरम्भ करते हुए और उसमें वर्णित अलंकार द्वारा यह बतलाने की चेष्टा 'उपनिषद्कार' ने की है कि जीव सांसारिक भोगों को भोग कर ही सुख दुःख प्राप्त किया करता है ॥१।४४॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीत-शोकः। २। ४५ ॥

अर्थ—(समाने) उसी (वृक्षे) वृक्ष पर (पुरुषः) जीवात्मा (निमग्नः) डूबा हुआ (अनीशया) असमर्थता से (मुह्यमानः) मोह में फँसा हुआ (शोचति) दुखी होता है (यदा) जब (जुष्टम्) (योगियों द्वारा) सेवित (अन्यम्) अपने से भिन्न (ईशम्) ईश्वर को (इति) और (अस्य) उसकी (महिमा-नम्) महिमा को (पश्यति) देखता है तब (वीतशोकः) शोक रहित होता है। २। ४५ ॥

व्याख्या—उपनिषद् के इस वाक्य में, पहले मन्त्र में वर्णित अलंकार के आधार से, वर्णन किया गया है कि जब जीव

ब्रह्मांड रूपी वृक्ष के फलों को खाकर फल प्राप्ति के बन्धन में अपने को डाल लिया करता है, तब असमर्थता और परतन्त्रता से मोह-ग्रस्त होकर दुःख उठाया करता है। उसका यह दुःख जब वह भोंगों से पृथक् रहकर साक्षीमात्र रहने वाले ईश्वर की ओर चलकर उसकी महिमा का निरीक्षण करता है और उस महिमा के निरीक्षण से उस (ईश्वर) के प्रति अपने हृदय में श्रद्धा उत्पन्न करता है, तब दूर हुआ करता है ॥ १ । ४५ ॥

यदा पश्यः पश्येत रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ ३ । ४६ ॥

अर्थ—(यदा) जब (पश्यः) द्रष्टा (रुक्मवर्णम्) प्रकाशमान् (कर्त्तारम) (जगत् के) कर्त्ता (ईशम्) स्वामी और (ब्रह्मयोनिम्) वेदोत्पातक (पुरुषम्) ईश्वर को (पश्येत) देखता है (तदा) तब (विद्वान्) ज्ञानी पुरुष (पुण्यपापे) पुण्य और पाप को (विधूय) छोड़कर (निरञ्जनः) निर्लेप होकर (परमम्) अत्यन्त (साम्यम्) समता को (उपैति) प्राप्त होता है ॥३।४६॥

व्याख्या—पिछले प्रकरण का विस्तार करते हुए उसीके सिलसिले में उपनिषद् के इस वाक्य में वर्णित है कि जब द्रष्टा= जीव, जगत् के कर्ता, प्रकाशमान, ज्ञानदाता, ईश्वर को देखता है तब सांसारिक पुण्य और पाप अथवा सुखदुःख से पृथक् होकर निर्लेप होकर समता को प्राप्त कर लेता है ॥ ३ । ४६ ॥

प्राणो ह्येष सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नाति वादी । आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ ४ । ४७ ॥

अर्थ—(हि) निश्चय (एषः) यह (ईश्वर) (प्राणः) (सबका प्राणदाता होने से) प्राण है (यः) जो (सर्वभूतैः) समस्त भूतों के साथ (विभाति) प्रकाशमान होता है (विजानन्) इसको जानता हुआ (विद्वान्) ज्ञानी पुरुष (अतिवादी) सीमा से बढ़कर बात करने वाला (न, भवते) नहीं होता (एषः) यह (जिज्ञासु) (आत्मक्रीड़ः) आत्मा में क्रीड़ा करनेवाला (आत्म-रतिः) आत्मा में रत होने वाला (क्रियावान्) क्रिया सम्पन्न (ब्रह्मविदाम्) ब्रह्म के जानने वालों में (वरिष्ठः) श्रेष्ठ होता है ॥ ४ । ४७ ॥

व्याख्या—आस्तिकता की महत्ता और आवश्यकता प्रकट करने के लिये, ईश्वर को, उपनिषद् के इस वाक्य में, समस्त प्राणियों के साथ प्राण के सदृश प्रकाशमान होने की बात कही गई है। जिस प्रकार प्राण के होने ही से प्राणी, प्राणी कहा जाता है अन्यथा प्राण रहित होने से वह, प्राणी नहीं अपितु शव=लाश कहा जाता है इसी प्रकार ईश्वर रूपी प्राण को, शरीर में प्राण के सदृश, आवश्यक न समझने से उसकी आत्मिक मृत्यु हुई समझनी चाहिये।

इस प्रकार ईश्वर का ज्ञान रखने से मनुष्य सीमा के अन्त-

गंत रहा करता है और सीमा से बढ़कर बात नहीं किया करता। वह सदैव आत्मवान होते हुए आत्मा (ईश्वर) में क्रीड़ा करता है और क्रिया सम्पन्न होता है। ऐसा पुरुष ब्रह्मज्ञों में श्रेष्ठ स्थान रक्खा करता है॥ ४। ४७॥

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥ ५। ४८॥

अर्थ—(अन्तःशरीरे) शरीर के अन्दर (ज्योतिर्मयः) प्रकाशमान (शुभ्रः) पवित्र (नित्यम्) अनादि (हि) निश्चय (एषः) इस (आत्मा परमात्मा को (जो) (सत्येन) सत्य (तपसा) तप (सम्यग्) यथार्थ (ज्ञानेन) ज्ञान (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य्य से (लभ्यः) प्राप्त होने योग्य है, (उसे) (क्षीणदोषाः) दोष क्षीण हुए (यतयः) यति गण (पश्यन्ति) देखते हैं॥ ५। ४८॥

व्याख्या—ईश्वर को प्राप्त करने अथवा उसकी समीपता उपलब्ध करने के लिये मनुष्य के अन्दर सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्य की आवश्यकता होती है इनके द्वारा वे क्षीण-दोष होते हैं और तभी इस योग्य भी होते हैं कि शरीर में व्याप्त ज्योतिर्मय और पवित्र ईश्वर के दर्शन कर सकें। सत्यादि की आवश्यकता होने का कारण यह है कि:—

(१) सत्य से मनुष्य का मन क्षीण दोष होकर शुद्ध होता है।

(२) तपसे द्वंद्व रहित होकर बलवान आत्मा वाला बनता है।

(३) सामयिक ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है।

(४) ब्रह्मचर्य से जीवन संयमित होता है।

ये चारों गुण न केवल ईश्वर प्राप्ति में सफलता के कारण होते हैं किंतु लोकोन्नति के लिये भी, उनकी वैसी ही आवश्यकता होती है ॥ ५ । ४८ ॥

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः। येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ ६ । ४९ ॥

अर्थ—(सत्यम्) सत्य (एव) ही की (जयते) जय होती है (अनृतम्) झूठ की (न) नहीं (सत्येन) सत्य ही से (देवयानः) मोक्ष प्राप्ति का (पन्थाः) मार्ग (विततः) फैला हुआ है (येन) जिस (मार्ग) से (आप्तकामाः) कामना रहित (ऋषयः) ऋषि (हि) निश्चय (आक्रमन्ति) जाते हैं (यत्र) जहां (तत्) वह (सत्यस्य) सत्य का (परमं, निधानम्) श्रेष्ठ पुञ्ज (ब्रह्म) है ॥ ६ । ४९ ॥

व्याख्या—इससे पहले वाक्य में जिस सत्य को ईश्वर की प्राप्ति का कारण बतलाया गया है उसी सत्य की महिमा इस वाक्य में प्रकट हो गई है। उपनिषद् का कथन है कि सत्य ही की विजय होती है, झूठ से मनुष्य कभी फूल फल नहीं सकता। देवयान=ईश्वर की ओर चलने का मार्ग भी सत्य ही से प्राप्त हुआ करता है जिस पर चल कर मनुष्य सत्य के

'परम कोश, ईश्वर तक पहुंचते हैं परन्तु पहुँचते वे ही हैं जो साधन सम्पन्न होकर कामना रहित हो चुके हैं।

सत्य को, वेदों की तरह उपनिषदों में भी, बड़ी महिमा वर्णन की गई है। एक जगह लिखा है:—वह यह बलों का बल है जो धर्म है इसलिये धर्म से बढ़कर कुछ नहीं है। जिस प्रकार राजा के सहारे, उसी प्रकार धर्म के सहारे निर्बल बलवानों के जीतने की इच्छा किया करता है। निश्चय जो धर्म है वही सत्य है। इसीलिये सत्य के कहने वाले को, कहते हैं कि धर्म को कहता है और धर्म की बात कहनेवाले को कहते हैं कि सत्य की बात कहता है।'

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्।
॥ ७ ॥ ५० ॥

अर्थ—(तद्) वह (ब्रह्म) (बृहत्) महान् (च) और (दिव्यम्) दिव्य=अलौकिक (अचिन्त्य रूपं) जिसकी सत्ता अचिन्तनीय है (तद्) वह (सूक्ष्मात्) सूक्ष्म से (सूक्ष्मतरम्)

---

(१) तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मः। तस्मात् धर्मात् परं नास्ति अथ अबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथा राज्ञा, यो व स धर्मः सत्यं वै तत्। तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्म्मं वा वदन्तं सत्यं वदति। इति॥ (बृह० उपनिषद्। १। ४। १४।)

अत्यन्त सूक्ष्म (विभाति) प्रकाशित है (च) और (तद्) वह (दूरात्) दूर से भी (सुदूरे) अति दूर (च) और (इह) यह (अंतिके) समीप भी (पश्यत्सु) देखने वालों के लिए (इह) इस (गुहायाम् एव) हृदयाकाश ही में (निहितम्) स्थित है।

॥ ७ ॥ ५० ॥

व्याख्या—उसी ब्रह्म के, जिसकी प्राप्ति की चर्चा, इससे पहले उपनिषद् वाक्यों में, की गई है, कुछेक गुणों का, इस वाक्य में उल्लेख है:—

(१) वह महान् और अलौकिक है।

(२) वह अचिन्तनीय है—चिन्तन चित्त अथवा मन का काम है अतः अचिन्तनीय का अभिप्राय यह हुआ कि वह मनादि अन्तःकरणों द्वारा चिन्तन नहीं किया जा सका। मन, बुद्धि आदि अन्तःकरणों के काम, तर्क तक समाप्त होजाते हैं परंतु ईश्वर तर्क का विषय नहीं अपितु निदिध्यासन (आत्मानुभव = Intutional perception) का विषय है। इसलिये वह इन्द्रियों द्वारा नहीं किन्तु आत्मा द्वारा प्राप्त किया जाया करता है।

(३) वह सूक्ष्म से सूक्ष्म है।

(४) वह दूर से दूर और समीप से समीप भी है। यह ईश्वर का रचा हुआ ब्रह्मांड, असंख्य सूक्ष्म मंडलों से मिल कर बना हुआ है। कोई ज्योतिषी सूर्य्यों की भी गणना नहीं कर सकता। फ्रांस के एक ज्योतिर्विद ने दो सूर्य्यों के बीच की दूरी

का कम से कम अनुमान २६०० संख्य मील का किया है और सूर्य्य असंख्य हैं इसलिये ब्रह्मांड के विस्तार का कोई अनुमान भी नहीं कर सकता, परन्तु पुरुष सूक्तमें समस्त ब्रह्मांड को ईश्वरके एक ही पाद में वर्णन किया है और बतलाया है कि उसके ३ पाद ब्रह्मांड से बाहर अलौकिक लोक में हैं। इसलिये उपनिषद् के इस वाक्य में उसे दूर से दूर कहा गया है। इसके साथ ही उसे समीप भी कहा गया है। उसकी समीपता का अनुमान इसी से किया जाता है कि वह मनुष्यों के हृदयों में मौजूद है और वहीं वह देखा भी जा सकता है। उसके साक्षात् करने के अभ्यासी उसे देखने के लिए अपने हृदय मन्दिरों ही में प्रवेश करने का यत्न किया करते हैं ॥ ७ ॥ ५० ॥

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा । ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्याय-मानः ॥ ८ ॥ ४१ ॥

अर्थ—(वह ब्रह्म) (चक्षुषा) आंख से (न गृह्यते) नहीं ग्रहण किया जाता (न, अपि वाचा) वाणी से भी नहीं (न) न (अन्यैः) अन्य (देवैः) इन्द्रियों से (न तपसा) न तप से (वा) और (न कर्मणा) न (सकाम) कर्म से (बल्कि) (ज्ञानप्रसादेन) ज्ञान की महिमा से (विशुद्धसत्वः) शुद्ध अन्तःकरण वाला होकर (ततः) उससे (ध्यायमानः) ध्यान

करता हुआ (तम्) उस (निष्कलम्) कला रहित (ब्रह्म) को (पश्यते) देखता है ॥ ८ ॥ ५१ ॥

व्याख्या—जैसा कि इससे पहले उपनिषद् वाक्य में कहा गया है कि ईश्वर इन्द्रियों का विषय नहीं है, इसीलिये उपनिषद् के इस वाक्य में कहा गया है कि उसे न आंख से देख सकते हैं न वाणी से ग्रहण कर सकते हैं और न उसे अन्य इन्द्रियों का विषय बना सकते हैं और न केवल तप या कर्म के द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। उसे जो देखना और प्राप्त करना चाहते हैं वे पहले अपने को इस योग्य बनाते हैं कि आत्मा द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त करें। इसी ज्ञान प्राप्तिकी विधि को प्रतिबोध या निदिध्यासन कहते हैं। इसी प्राप्त ज्ञान की महिमा से वे विशुद्ध अतःकरण वाले होते हैं और उस कला रहित ब्रह्म को प्राप्त किया करते हैं ॥ ८ ॥ ५१

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश। प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥ ९ ॥ ५२ ॥

अर्थ—(एषः) वह (अणुः) सूक्ष्म (आत्मा) ब्रह्म (चेतसा) ज्ञान से (वेदितव्यः) जानने योग्य है (यस्मिन्) जिस (शरीर) में (प्राणः) (पञ्चधा) पांच भेदों से (संविवेश) प्रविष्ट हो रहा है और (प्राणैः) प्राणों के साथ (प्रजानाम्) प्राणियों का (सर्वम) सब (चित्तम्) चित्त=अन्तःकरण (ओतम्) व्याप्त है और (यस्मिन्) जिस में (विशुद्धे) विशेष रूप से

शुद्ध होने पर (एषः) वह (आत्मा) ब्रह्म (विभवति) प्रकाशित होता है ॥ ६ ॥ ५२ ॥

व्याख्या—जो विषय इस से पहले उपनिषद् वाक्यों में वर्णित हैं उसी की पुष्टि इस वाक्य द्वारा की गई है। वह सूक्ष्म ब्रह्म, आत्म द्वारा प्राप्त ज्ञान से, प्राप्तव्य होता है। उस महान् ब्रह्म में प्राण अपने पांच भेदों से प्रविष्ट है। इन्हीं प्राणों के साथ प्राणियों के अन्तःकरण भी उसी में व्याप्त है। उन्हीं अन्तःकरणों के विशेष रीति से शुद्ध हो जाने पर, मुमुक्षु उस ब्रह्म को प्राप्त किया करता है ॥ ६ ॥ ५२ ॥

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्वः कामयते याँश्च कामान्। तं तं लोकं जायते ताँश्च कामाँस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्च्चयेत् भूतिकामः ॥ १० ॥ ५३ ॥

अर्थ—(विशुद्धसत्वः) निर्मल अन्तःकरण वाला (मनुष्य) (यम्, यम्, लोकम्) जिस जिस लोक को (मनसा) मन से (संविभाति) चिन्तन करता है (च) और (यान्) जिन (कामान्) कामनाओं को (कामयते) चाहता है (तम्, तम्, लोकम्) उस उस लोक को (च) और (तान्) उन (कामान्) कामनाओं को (जायते) प्राप्त होता है (तस्मात्) इसलिये (हि) निश्चय (भूतिकामः) विभूति का इच्छुक, (आत्मज्ञम्) ब्रह्मवित की (अर्च्चयेत) पूजा करे ॥ १० ॥ ५३ ॥

व्याख्या—खंड का उपसंहार करते हुये उपनिषद् के ऋषि

कहते हैं कि निर्मल अन्तःकरण वाला पुरुष अपने शुद्ध अन्तः-करण के प्रभाव से अन्त समय अथवा किसी समय में भी जिस जिस लोक या भोग का मन द्वारा संकल्प करता है वह उस लोक या भोग को प्राप्त किया करता है। इसलिये इस प्रकार का सामर्थ्य या सिद्धि चाहने वालेको चाहिये कि आत्म वेत्ता गुरुको प्राप्त हो और उसका सत्कार करे तब उसकी शिक्षानुकूल आचरण करने से अपने को सिद्धि प्राप्त शिष्य बना सकता है। निर्मल अन्तःकरण वाला पुरुष अमोघ संकल्प हो जाया करता है, वह जो भी संकल्प करता है वह पूरा हो जाया करता है। उसका कोई भी संकल्प व्यर्थ नहीं जाया करता ॥ १० ॥ ५३ ॥

इति तृतीये मुण्डके प्रथमः खण्डः

तृतीय मुण्डक

द्वितीयः खण्डः

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः ॥
॥ १ ॥ ५४ ॥

अर्थ—(सः) वह (आत्मज्ञ) (एतत्) इस (परमं, धाम) परम आश्रय (ब्रह्म) ब्रह्म को (वेद) जानता है (यत्र) जिस में (विश्वम्) विश्व (निहितम्) स्थित है और (जो ब्रह्म) (शुभ्रन्) शुद्ध और (भानि) प्रकाशित है (हि) निश्चय (ये) जो (अकामाः) इच्छा रहित होकर (पुरुषम्) पुरुष=ईश्वर की (उपासते) उपासना करते हैं (ते) वे (धीराः) धीर पुरुष (एतत्) इस (शुक्रम) शुक्र=वीर्य्य को (अतिवर्त्तन्ति) उल्लंघन कर जाते हैं ॥ १ ॥ ५४ ॥

व्याख्या—जो मनुष्य कामना रहित होकर सफलता पूर्वक ईश्वरोपासना करता है उसमें दो प्रकारकी योग्यता आजाती है—

(१) वह परम पवित्र ब्रह्म को, जिसमें समस्त ब्रह्मांड स्थित है और जो समस्त ब्रह्मांड में प्रकाशित हो रहा है, जानने लगता है।

नोट—ब्रह्म के जानने का अभिप्राय ब्रह्म का केवल साधारण ज्ञान नहीं है कि ब्रह्म है और ऐसा है और वैसा है इत्यादि किन्तु जानने का अभिप्राय यह है कि उसे प्रतिबोध होने लगा अर्थात् वह अपने आत्मा द्वारा उसके साक्षात् करने की योग्यता वाला हो गया।

(२) वह ऊर्ध्वरेता हो जाता है। वीर्य सम्बन्धी किसी प्रकार का भी विकार उसको विकृत नहीं कर सकता ॥ १ ॥ ५४ ॥

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र। पर्य्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥ २ ॥ ५५ ॥

अर्थ—(यः) जो (कामान्) इच्छाओं को (मन्यमानः) मन में रखता हुआ (कामयते) (उनकी पूर्ति) चाहता है (सः) वह (मनुष्य) (कामभिः) उन कामनाओं = वासनाओं के साथ (तत्र, तत्र) वहां वहां (वासनाओं के अनुसार) (जायते) उत्पन्न होता है परन्तु (पर्याप्तकामस्य) पूर्ण हुई इच्छा वाले = इच्छा रहित की (जिसने) (कृतात्मनः) आत्मा को साक्षात् कर लिया है, (सर्वे; कामाः) समस्त कामनायें (इह, एव) यहां ही इस शरीर ही में (प्रविलीयन्ति) विलीन हो जाती हैं। २। ५५

व्याख्या—जो मनुष्य कामना रहित होकर ईश्वर की उपासना करते हैं, जैसा इससे पहले कहा जाचुका है, वे पर्याप्त काम = पूर्ण हुई इच्छा वाले या इच्छा रहित हो जाते हैं उनकी समस्त काम-

नायें इस शरीर ही में विलीन हो जाती हैं परन्तु जो ऐसे नहीं हैं और जो कामना रहित नहीं हो सके हैं और फल को लक्ष्य में रखकर ही (सकाम) कर्म करते हैं वे उन वासनाओं के साथ जो उनके कर्मों से उत्पन्न होती हैं और जिन्हें सञ्चित कर्मों का रूपान्तर ही कहना चाहिये, उन्हीं वासनाओं के अनुकूल ही जन्म लिया करते हैं। उपनिषद् की यही शिक्षा है। इसे यों भी कह सकते हैं कि मनुष्य की अन्त समय में समस्त जीवन के चित्रवत् जैसी अन्तिम अवस्था होती है उसी के अनुसार जन्म हुआ करता है ॥ २ ॥ ५५ ॥

नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैव वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ॥ ३ ॥ ५६ ॥

अर्थ—(अयम) यह (आत्मा) परमेश्वर (प्रवचनेन) शास्त्रों के पढ़ने से (न लभ्यः) नहीं प्राप्त होता (न, मेधया) न बुद्धि से (न, बहुना, श्रुतेन) न बहुत सुनने से (प्राप्त होता है) (यम्, एव) जिस ही को (एषः) यह (परमात्मा) (वृणुते) स्वीकार कर लेता है=छांट लेता है (तेन) उस से (लभ्यः) प्राप्त होने योग्य है (एषः, आत्मा) यह आत्मा=परमेश्वर (स्वाम) अपने (तनूम) स्वरूप को (उस पर) (वृणुते) प्रकाशित करता है ॥ ३ ॥ ५६ ॥

व्याख्या—उपनिषद् की शिक्षा जो इस वाक्य द्वारा दी गई है

बड़ी महत्वपूर्ण है। शिक्षा यह है कि वह ईश्वर, प्रवचन, बुद्धि अथवा बहुश्रुत होने से प्राप्त नहीं होता, उसे वह मनुष्य ही प्राप्त कर सकता है जिसे स्वयं वह (ईश्वर) छांट लिया करता है और उसी पर वह अपने स्वरूप को प्रकाशित कर देता है। प्रश्न यह है कि वह अंधाधुन्ध किसीको छांट लेता है अथवा छांट लेने की कोई मर्यादा है? इस प्रश्नका उत्तर ऋग्वेदकी एक ऋचासे मिल जाता है। ऋग्वेद में एक जगह कहा गया है:—"न ऋते श्रांतस्य सखाय देवाः।" (१) अर्थात् जब तक मनुष्य यत्न करके अपने को थका नहीं लेता तब तक वह ईश्वर की दया का पात्र नहीं बन सकता।

एक उदाहरण—इस शिक्षा को स्पष्ट करने के लिए वेदांत के ग्रन्थों में एक बड़ा सुन्दर उदाहरण एक माता और उसके घुटनों के बल चलने वाले छोटे बालक का है। एक माता एक ओर खड़ी है और उसका छोटा सा बालक दूसरी ओर खेल रहा था। बच्चे को भूख लगी, स्वभावतः उसे माता याद आई, वह माता की ओर घुटनों के बल चला और माता के चरणों तक पहुँचकर खड़ी हुई माता की ओर, आशा भरी दृष्टि से, सहायता के लिये देखने लगा—माताने देखा कि उसका प्यारा बालक भूख से व्याकुल होकर घुटनों के बल चलते हुये उसके चरणों तक पहुँच गया, परन्तु अब यह उसकी सामर्थ्य से बाहर है कि वह अपने को

---

(१) देखो ऋग्वेद ४।३३।११।

इतना ऊँचा कर ले जिससे स्तनों तक मुँह पहुंचा कर अपनी-भूख को शांत कर लेवे। माता के हृदय में बालक पर दया करने के भाव जागृत हो उठते हैं और वह प्रेम से बालक को गोद में उठा कर दूध पिलाकर उसे कृतकृत्य कर देती है। ठीक इसी तरह जब मुमुक्षु अपने को, अपने अंतःकरण आदि का उपनिषद् की शिक्षानुकूल, शुद्ध करने के द्वारा, ईश्वर के दर्शन का अधिकारी बना लेता है तब उस मुमुक्षुरूप बालक पर उस जगत् जननी जगदंबा को भी दया आती है और वह उस मुमुक्षुरूप बालक को गोद में उठाकर आंनन्दरूपी दुग्ध का पान कराके कृतकृत्य कर देती है। इसलिए मनुष्यों को आलस्य का त्याग करके अपने को यत्नवान बनाना चाहिए कि उनका जीवन, उपनिषद् की शिक्षानुकूल क्रियात्मक जीवन बने तभी वह उस जगत् पिता की दया के पात्र बन सकते हैं ॥ ३ ॥ ५६ ॥

नाऽयमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्य लिङ्गात्। एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥ ४ ॥ ५७ ॥

अर्थ—(अयम्) यह (आत्मा) ब्रह्म (बलहीनेन) निर्बलात्माओं से (न, लभ्यः) नहीं प्राप्त होने योग्य है (च) और (प्रमादात्) प्रमाद से (वा) अथवा (अलिङ्गात्) चिन्ह = वैराग्य रहित (तपसः) तप से (अपि) भी (न, लभ्यः) नहीं

प्राप्त होता (एतैः) इन (उपायैः) उपायों से (यः) जो (विद्वान्) (यतते) यत्नशील होता है (तस्य) उसका (एषः, आत्मा) यह आत्मा=जीवात्मा (ब्रह्मधाम) ब्रह्मधाम में (विशते) प्रवेश करता है ॥ ४ ॥ ५७ ॥

व्याख्या—वह परमेश्वर निर्बलात्माओं को प्राप्त नहीं होता उसके प्राप्त होने के साधन ये हैं:—

(१) आत्मा का बलवान होना ।

(२) जीवन में तत्परता का होना, आलस्य का सर्वथा त्याग ।

(३) वैराग्य में तप का होना ।

इन उपायों से जब मुमुक्षु (मोक्षाभिलाषी) यत्नशील होता है तब उसका आत्मा ब्रह्मधाम में प्रवेश करता अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ ४ ५७ ॥

नोट—इससे पहले उपनिषद् वाक्यों में अनेक जगह ईश्वर की प्राप्ति के अनेक साधन वर्णन हो चुके हैं। उनमें और जो साधन यहां वर्णन किये गये हैं उनमें कोई भेद नहीं किन्तु सभी प्रायः ऐसे हैं कि एक के प्राप्त होने पर दूसरे भी स्वयमेव प्राप्त हो जाया करते हैं।

सं प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशांताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥
॥ ५ ॥ ५८

अर्थ—(एनम्) इस (ब्रह्म) को जो (ऋषयः) तत्व ज्ञानी

जन (संप्राय) प्राप्त होकर (ज्ञानतृप्ताः) ज्ञान से तृप्त (कृतात्मानः) आत्मा के साक्षात्कार करने वाले (वीतरागाः) राग रहित (प्रशान्ताः) शान्त (हो जाते हैं) (ते) वे (धीराः) धीर पुरुष (युक्तात्मानः) समाहित चित्त होकर उस (सर्वगम्) सर्व व्यापक (ईश्वर) को (सर्वतः) सब ओर से (प्राप्य) प्राप्त हो कर (सर्वम्, एव) सब ही को (आविशन्ति) प्रवेश करते हैं।

५ ॥ ५८ ॥

व्याख्या—इस उपनिषद् वाक्य में वर्णित हुआ है कि मनुष्यों का आत्मा किस प्रकार अव्याहत गति वाला अर्थात् बिना किसी रुकावट के सर्वत्र विचरने वाला हो सकता है:—

जब मुमुक्षु ब्रह्मज्ञान से तृप्त, राग रहित और समाहित चित्त होकर वह योग्यता प्राप्त कर लेते हैं जिससे आत्म साक्षात्कार कर सकें तब वे ऋषि उस सर्वव्यापक ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं और उस ब्रह्म की प्राप्ति से उनकी अव्याहत गति हो जाती है।

आत्मा के लिये बंधन शरीर का हुआ करता है. जब मुमुक्षु वासनाओं के नष्ट कर देने से शरीर के बंधन से स्वतन्त्र अथवा आवागवन=जीने और मरने की क़ैद से छूट जाता है तब आत्मा के लिए रुकावट का कारण कुछ न रहने से वह जहां चाहे वहाँ विचर सकता है॥ ५ ॥ ५८ ॥

वेदांत विज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परांतकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।६।५९

अर्थ—(वेदान्त) वेद की अन्तिम शिक्षा और (विज्ञान) विज्ञान से (सुनिश्चितार्थाः) निश्चयात्मक ज्ञान रखने वाले (संन्यासयोगात्) वैराग के योग से (यतयः) यत्नशील (शुद्ध सत्वाः) निर्मल अन्तःकरण वाले (ते सर्वे) वे सब (परान्त, काले) शरीरान्त समय में (ब्रह्मलोकेषु) ब्रह्मलोक में (परामृताः) अमरता का जीवन प्राप्त करके (परिमुच्यन्ति) सांसारिक बन्धनों से छूट जाते हैं ॥ ६ ॥ ५६ ॥

व्याख्या—जब जिज्ञासु में निम्न योग्यतायें आजाती हैं:—

(१) वेदान्त अर्थात् वेद की अन्तिम शिक्षा का, जो ब्रह्म की प्राप्ति के सम्बन्ध में है, मनुष्य को, निश्चयात्मक ज्ञान होजाना।

(२) विज्ञान=प्रतिबोध=निदिध्यासन अर्थात् उस ज्ञान का प्राप्त हो जाना जो आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति के जागृत हो जाने से आत्मा को प्राप्त हुआ करता है ।

(३) संन्यासयोग=पूर्ण वैराग्य की प्राप्ति ।

(४) यत्नशीलता ।

(५) अन्तःकरण की निर्मलता ।

तब वह जिज्ञासु मरकर समस्त बन्धनों से मुक्त और अमरता का जीवन प्राप्त करता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त हो जाता है ।

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति
॥ ७ ॥ ६० ॥
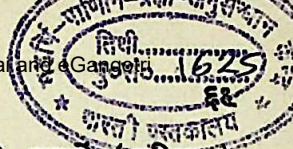
अर्थ—(पञ्चदश) पन्द्रह (कलाः) कलायें (प्रतिष्ठाः) अपने कारण में (गताः) चली जातीं=लीन हो जाती हैं (च) और (सर्वे, देवाः) समस्त देव=इन्द्रियां (प्रतिदेवतासु) अपने कारण में (लीन हो जाती हैं) (कर्माणि) निष्काम कर्म (च) और (विज्ञानमयः) विशेष ज्ञान मय (आत्मा) जीव (परे) अत्यन्त (अव्यये) एक रस रहने वाले (ब्रह्म) में (सर्वे) सब (एकीभवन्ति) एक हो (मिल) जाते हैं ॥ ७ ॥ ६० ॥

व्याख्या—इस वाक्य में यह शिक्षा दी गई है कि मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी जब शरीर छोड़ता है तब क्या उससे छूट जाता है और क्या उसके साथ जाया करता है:—

छूटने वाली वस्तुयें—(१) १५ कलायें अपने कारण में लीन हो जाती हैं। प्रसिद्ध सोलह कलायें ये हैं।

(१) प्राण (२) श्रद्धा (३) आकाश
(४) वायु (५) अग्नि (६) जल
(७) पृथिवी (८) इन्द्रिय (९) मन
(१०) अन्न (११) वीर्य्य (१२) तप
(१३) मंत्र (१४) कर्म (१५) लोक
(१६) नाम (देखो प्रश्नोपनिषद् ६ । ४)।

इनमें जब मन और इन्द्रियं को एक कोटि मे रख लेते हैं तब यही १६ कलायें १५ कलायें कहलाया करती हैं।

(२) समस्त इन्द्रिय और उनको शक्ति अपने कारण सूक्ष्म भूत में चली जाती हैं।

नोट—(१) १५ कलाओं और समस्त इन्द्रियों के अपने अपने कारण में लीन हो जाने से आत्मा का किसी भी प्रकार के शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता सभी छूट जाते हैं।

(२) १५ कलाओं में जब इन्द्रियों की गणना आगई तब फिर उन्हे अलहदा क्यों लिखा इस शंका का समाधान यह है कि इन्द्रियों के गोलक पृथक् होते हैं और असली इन्द्रिय शक्ति उनसे सर्वथा पृथक् मस्तिष्क में हुआ करता है १५ कलाओं में केवल गोलक रूप में इन्द्रियों का समावेश होता है इसलिये आवश्यक था कि असली इन्द्रियों को पृथक् लिखा जाता।

साथ जाने वाली वस्तुयें—(१) कर्म। कर्म दो प्रकार के होते हैं सकाम और निष्काम। इन में से वासनोत्पादक सकाम कर्म शरीर रखते हुये ही नष्ट हो जाते हैं। इनके नष्ट हो जाने से वासनायें भी नष्ट हो जाती हैं परन्तु निष्काम कर्म वह जीवन मुक्त अन्त समय तक करता है। इसलिये वे सभी निष्काम कर्म उसके साथ जाते हैं।

(२) विज्ञान। कर्म के सिवा दूसरी चीज जो मुक्तात्मा के साथ जाती हैं वह आत्मा द्वारा प्राप्त विशेष ज्ञान है जिसको विज्ञान प्रतिबोध निदिध्यासन (Intuition perception) आदि शब्दों से पुकारा जाता। इस प्रकार त्यक्तव्य पदार्थों को छोड़ निष्काम कर्म और विज्ञान के साथ मुक्तात्मा अपने से सूक्ष्म और अविनाशी एक रस रहने वाले ब्रह्म के साथ मिल जाता है ॥ ७ ॥ ६० ॥

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥
८ ॥ ६१ ॥

अर्थ—(यथा) जैसे (नद्यः) नदियां (स्यन्दमानाः) बहती हुई (समुद्रे) समुद्र में (नामरूपे) नाम और रूप (बाह्यदृश्य) (Appearance) को (विहाय) छोड़ कर (अस्तम्) अस्त (गच्छन्ति) हो जाती हैं (तथा) इसी प्रकार (विद्वान्) विद्वान् (नामरूपात्) नाम और रूप से (विमुक्तः) छूट कर (परात्परम्) सूक्ष्म से सूक्ष्म (दिव्यम्) अलौकिक (पुरुषम्) पुरुष = ईश्वर को (उपैति) प्राप्त होता है ॥ ८ । ६१ ॥

व्याख्या—जगत् की प्रत्येक वस्तु में दो चीजें हुआ करती हैं एक उस वस्तु का बाह्य दृश्य, उसका आकार प्रकार रूप रंग। दूसरी उसकी आंतरिक सत्ता जिसे वस्तु तत्त्व भी कहते हैं—कांट जरमन के सर्वोत्कृष्ट दार्शनिक ने प्रथम को बाह्यदृश्य (Apea-rance) और दूसरी को वस्तुतत्त्व (Thing in itself) कहा है—बाह्य आकार आदि ही को इस वाक्य में नामरूप कहा गया है। वाक्य का भाव यह है कि जिस प्रकार बहती हुई नदियां समुद्र से मिलकर उसमें समा जाती हैं और फिर उन्हें गंगा, यमुना आदि नामों से कोई नहीं पुकारता इसी प्रकार मुक्त जीव अपने नामरूप को छोड़कर सूक्ष्म से सूक्ष्म दिव्य ईश्वर को प्राप्त कर लेता है।

नोट—यद्यपि नदियों का नाम रूप समुद्र में मिल जाने से बाकी नहीं रहता परन्तु उनका वस्तु तत्त्व (जल) नष्ट नहीं हो जाता वह समुद्र से मिलकर समुद्र जल की मात्रा को बढ़ा देता है इसी प्रकार मुक्त जीव का भी वस्तुतत्त्व (आत्मा) नष्ट नहीं होता वह ईश्वर को प्राप्त करके भी अपनी सत्ता कायम रखता है केवल नाम रूप, जो शरीर और आत्मा के संघात से सम्बन्धित होता है, उस संघात के बाकी न रहने से, बाकी नहीं रहता ॥ ८ ॥ ६१ ॥

स योह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। नास्याऽब्रह्मवित्कूले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥ ९ ॥ ६२ ॥

अर्थ—(ह, वै) निश्चय (सः) वह (यः) जो (तत्) उस (परमं, ब्रह्म) परब्रह्म को (वेद) जानता है (ब्रह्म, एव) ब्रह्म ही (भवति) होता है (अस्य) इसके (कुले) कुल में (अब्रह्मवित्) ब्रह्म का न जाननेवाला (कोई) (न, भवति) नहीं होता (शोकम्) शोक को (तरति) तरता है (पाप्मानम) पाप को (तरति) पार करता है (गुहाग्रन्थिभ्यः) वासनाओं की गांठों से (विमुक्तः) छूटकर (अमृतः) अमर (भवति) हो जाता है। ९। ६२॥

व्याख्या—इस वाक्य में ब्रह्म की प्राप्ति के ३ फल बतलाये हैं:—(१) ब्रह्म का जानने वाला ब्रह्म हो जाता है। (२) उसके कुल में कोई ब्रह्म का न जानने वाला नहीं होता। (३) मुक्त जीव

शोक और पाप से छूट जाता है, उसके हृदय की गांठ (वासना) खुल जाती है और वह अमर हो जाता है।

इन फलों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है:—

(१) प्रेम और भक्ति की सर्वोत्कृष्ट अवस्था यह होती है कि प्रेमी अपने प्रेष्ठ के प्रेम में इतना मग्न हो जावे कि उसे अपनी सुध-बुध न रहे, प्रेष्ठ-ही-प्रेष्ठ उसको इधर उधर हर जगह दिखाई दे। जैसे कि कहा गया है कि:—"जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।" योग के सातवें अंग तक पहुँचने पर योगी अपने को ध्याता और अपने से भिन्न ध्येय का ध्यान करने वाला समझा करता है परन्तु योग के आठवें और अन्तिम अंग में पहुँचने पर योगी अपने को भूलकर केवल प्रभु के प्रेम में इतना मग्न हो जाता है कि उसे प्रत्येक जगह वही दिखाई देने लगता है। वह अपने को भी वही समझता है और अन्य सबको भी वही। इसी अवस्था को प्राप्त हो जाने पर ब्रह्मोपासक अपने को भी ब्रह्म समझता है तथा अन्यों को भी—इसी अवस्था का सुन्दर चित्र ऋग्वेद की एक ऋचा में खिंचा हुआ मिलता है:—

यदग्ने स्यामहं त्वं, त्वं वाचास्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥ ऋ० ८। ५४। २३॥

अर्थात् हे प्रकाशवाले प्रभु! यदि मैं तू हो जाऊँ और तू मैं होजा तो तेरा आशीर्वाद संसार में सत्य हो जावे। प्रभु का मनुष्यों के लिए जो आशीर्वाद है उसका संकेत यजुर्वेद के इस वाक्य में मिलता है:—"शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः।" अर्थात् सुनो ऐ समस्त अमृत पुत्रो! इस वाक्य में मनुष्यों को अमृत

पुत्र कहा गया है। यह आशीर्वाद कब चरितार्थ हो जब मनुष्य के भीतर इतनी उत्कृष्ट भक्ति आ जावे कि वह समझने लगे कि 'मैं तू और तू मैं हो गया।' कबीर ने इसी भाव को बड़ी सुन्दरता से अपनी एक कविता में प्रदर्शित किया है:—

जब मैं थी तब हर नहीं जब हर तब मैं नांय।
प्रेम गली अति सांकरी जा में दो न समाय॥

परन्तु भक्ति की इस उत्कृष्ट मर्यादा को न समझ कर यदि कोई हठ करे कि नहीं ब्रह्मवित् तो ब्रह्म ही हो जाता है तो उसको समझना चाहिए कि ब्रह्मविदो "ब्रह्मैव भवति।" इस वाक्य में प्रयुक्त भवति=हो जाता है, क्रिया प्रकट करती है कि ब्रह्मवित् पहले ब्रह्म नहीं था अब हुआ है इसलिये यह सादि ब्रह्म होगा। परन्तु असली ब्रह्म अनादि ब्रह्म है। यह अन्तर सदैव होगा और इस अंतर की वजह से जीव-जीव और ब्रह्म-ब्रह्म ही रहेगा, दोनों एक नहीं हो सकते।

(२) ब्रह्मवित् के कुल में अब्रह्मवित् का न होना स्पष्ट है। सन्तान, पारिवारिक परिस्थिति. माता और पिता के क्रियात्मक विचारों के अनुरूप बना करती है। जहां और जिस परिवार में आस्तिकता और ईश्वर-परायणता का वातावरण हो वहां नास्तिक और अब्रह्मवित पैदा नहीं हो सकते। क्लिष्ट कल्पना के तौर पर यदि मान भी लेवें कि ऐसे परिवार में भी किसी के अब्रह्मवित होने की सम्भावना हो सकती है तो यह नियम का अपवाद होगा नियम वही ब्रह्मवित् होने ही का रहेगा।

(३) स्पष्ट है कि मुक्तजीव शोकादि के पार हो ही जाता है ६।६२

तदेतदृचाभ्युक्तं क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठा स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तस्तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् । १० । ६३ ॥

अर्थ—(तद्) वह (एतद्) यह (जो वर्णित हुआ) (ऋचा) वेदमन्त्र में भी (अभि, उक्तम (कहा गया है) (क्रियावन्तः) निष्काम कर्म सम्पन्न (श्रोत्रियाः) वेद विद्या में कुशल (ब्रह्मनिष्ठाः) ब्रह्म में विश्वास रखने वाले (श्रद्धयन्तः) श्रद्धावान (स्वयम्) स्वयं (एकर्षिम) अद्वितीय ब्रह्म को (जुह्वते) ग्रहण करते हैं (यैः, तु) और जिन्होंने (शिरोव्रतम्) मुख्य व्रत को (विधिवत्) नियमानुकूल (चीर्णम) धारण किया है (तेषाम एव) उन्हीं के लिये (एताम्) इस (ब्रह्मविद्याम्) ब्रह्मविद्या को (वदेत्) कहे । १० । ६३ ॥

व्याख्या—इस ब्रह्मविद्या के अपूर्व ग्रन्थ उपनिषद् को समाप्त करते हुए इस उपनिषद् के कर्त्ता ने यह शिक्षा भी दी है कि इस ब्रह्मविद्या का उपदेश किसको देना चाहिये और इस बात को प्रकट करने के लिये उन्होंने ऋचा को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है । ऋचा में कहा गया है कि जो पुरुष ऐसे हैं जो निष्काम कर्म करते हैं और वेद विद्या को जानते हैं और अद्वियीय ईश्वर में विश्वास और श्रद्धा रखते हैं और जिन्होंने ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये मुख्य व्रत भी धारण कर रक्खा है । ऐसे लोग हैं जिन्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश करना चाहिये ।

इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अनुकूल भूमि में च...
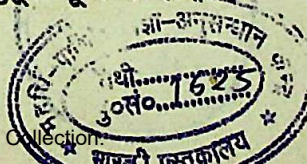
डालने से वह अंकुरित होकर फूल और फल देने लगता है। यदि उसे ऊसरभूमि में डाल दिया जावे तो उगने और फूल फल देने का तो कथा ही क्या है उल्टा वह बीज भी नष्ट हो जावेगा। इसी प्रकार श्रद्धा रखने वालों को, ब्रह्मविद्या का उपदेश देने से, वह उपदेश उनके हृदयों में अपना स्थान बनाता है परन्तु जहां श्रद्धा न हो वहां वह व्यर्थ हो जाता है। १०। ६३॥

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिरा पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः। ११। ६४॥

अर्थ—(तद्, एतद्) उस इस (सत्यम्) नित्य पुरुष को (पुरा) पहले (अङ्गिराः, ऋषिः) अङ्गिरा ऋषि ने (उवाच) कहा (एतत्) इस (ब्रह्म) को (अचीर्ण व्रतः) व्रत का धारण न करने वाला (न, अधीते) नहीं जानता (परम ऋषिभ्यः) परम ऋषियों के लिये (नमः) नमस्कार हो। ११। ६४॥

व्याख्या—उस इस नित्य पुरुष ईश्वर को अङ्गिरा ऋषि ने कहा अर्थात् अंगिरा ऋषि ने ब्रह्मविद्या की शिक्षा दी और बतलाया कि जो अचीर्ण व्रत हैं अर्थात् जिन्होंने व्रतों का अनुष्ठान नहीं किया है वे (ब्रह्मविद्या) को नहीं जान सकते।

जिन ऋषियों ने अपने महान् जीवनों को ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में लगाया है ऐसे महान् ऋषियों को नमस्कार करते हुये उपनिषद् समाप्त की गई है। दो बार पाठ समाप्ति सूचक है। ११। ६४॥

तृतीय मुण्डके द्वितीयखण्डः

॥ समाप्ताचेयमुपनिषद् ॥

सोनियाँ
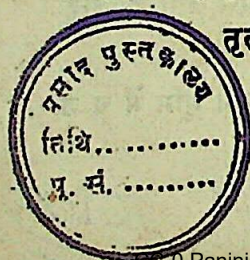
अध्यक्ष

उनको रा

अन्त्येष्टिके बाद पार्टी अ
मसलेपर पुनः विचा

(आज समाचार सेवा)

नयी दिल्ली, २३ मई। श्रीमती सोनिया गांधीने आज कांग्रेसका अध्यक्ष बननेसे स्पष्ट इनकार कर दिया। सोनिया गांधीका फैसला जाननेके बाद कांग्रेस पार्टीमें इसकी जबरदस्त प्रतिक्रिया हुई। जहां मुट्ठीभर

मन प्रसन्न थे
तबकेको सोनिय
पहुंचा है। सोनि
कि सोनिया गां
अध्यक्ष बननेको
थोड़ा वक्त जरूर
इस बीच अ

ाथ भी
भूकंपका
ोमीटर
गया।

उत्तर प्रदेश, बिहारमें सर्वाधिक प्रसारित

वाराणसी, गोरखपुर, इ

ंधीका कां

नेसे इनक

करनेकी मुहिम जारी

नारायण दत्त, जगन्नाथ मिश्र, श
पवार सोनियाके खिलाफ

एक बड़े
ीसे धक्का
मानना है
र्टी हितमें
गी इसमें

नेताओंने

श्रीमती सोनिया गांधीसे अनुरोध किया है कि वह अपने फैसलेपर पुनः विचार करें। कांग्रेस कार्यकारिणी समितिने कल सोनिया गांधीको सर्व सम्मतिसे पार्टी अध्यक्ष बनानेकी घोषणा की थी।

श्रीमती सोनियाने आज दोपहरमें यहां जारी एक वक्तव्यमें कहा कि कांग्रेस

कार्यकारिणीने उनमें जो विश्व
किया है, उसके लिए वह हृदयसे
हैं। उन्होंने कहा कि उन्हें त
बच्चोंको जिस दुखद स्थितिका
करना पड़ रहा है उसे देखते
अध्यक्ष पद स्वीकार नहीं कर
श्रीमती सोनिया गांधीने
जवाहरलाल नेहरू, इंदिरा
उनके स्वर्गीय पति राजीव गां
जीवन पार्टी और देशको स
दिया। उन्होंने कहा कि इन ने
अन्य कांग्रेसजनों द्वारा किये

त मिलनेका दावा